

२९७२-

आगम संस्थान ग्रन्थमाला : ७

सम्पादक  
प्रो० सागरमल जैन

# महापच्चक्खारापद्धण्यं

( महाप्रत्याख्यान-प्रकीर्णक )  
( मुनि पुण्यविजय जी द्वारा संपादित मूल्याठ )

अनुबादक  
सुरेश सिसोदिया

सह शोष अधिकारी  
आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान  
उदयपुर ( राज० )

भूमिका  
प्रो० सागरमल जैन  
सुरेश सिसोदिया



आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान  
उदयपुर

## प्रकाशकीय

अद्वैतागार्थी जैन आगम-साहित्य भारतीय संस्कृति और साहित्य की अमूल्य निधि है। दुर्भाग्य से इन ग्रन्थों के अनुवाद उपलब्ध न होने के कारण जनसाधारण और विद्वान् दोनों ही इससे जनतिति हैं। इनमें ग्रन्थों में अनेक प्रकीर्णक प्राचीन और अध्यात्मप्रधान होते हुए भी अप्राप्त से रहे हैं। यह हमारा सौभाग्य है कि पूज्य मुनि श्री पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित इन प्रकीर्णक ग्रन्थों के मूलपाठ का प्रकाशन श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई से हो चुका है, किन्तु अनुवाद के अभाव में जनसाधारण के लिए ये ग्राह्य नहीं बन सके। इसी कारण जैन विद्या के विद्वानों की समन्वय समिति ने अनुदित आगम ग्रन्थों और आगमिक व्याख्याओं के अनुवाद के प्रकाशन को प्राथमिकता देने का निर्णय लिया और इसी सन्दर्भ में प्रकीर्णकों के अनुवाद का कार्य आगम संस्थान को दिया गया। संस्थान द्वारा अब तक देवेन्द्रस्तव, तन्तुलवेचारिक एवं चन्द्रवेद्यक नामक तीन प्रकीर्णक अनुवाद सहित प्रकाशित किये जा चुके हैं।

हमें प्रसन्नता है कि संस्थान के सह शोध अधिकारी श्री सुरेश सिसोदिया ने 'महाप्रत्याख्यान-प्रकीर्णक' का अनुवाद सम्पूर्ण किया। प्रस्तुत ग्रन्थ की सुविस्तृत एवं विचारपूर्ण भूमिका संस्थान के मानद निदेशक प्रो० सागरमल जी जैन एवं श्री सुरेश सिसोदिया ने लिखकर ग्रन्थ को पूर्णता प्रदान की है, इस हेतु हम उनके कृतज्ञ हैं।

हम संस्थान के मार्गदर्शक प्रो० कमलचन्द जी सोगानी, मानद सह निदेशिका डॉ० सुषमा जी सिंघवी एवं मन्त्री श्री वीरेन्द्र सिंह जी लोडा के भी आभारी हैं, जो संस्थान के विकास में हर सम्भव सहयोग एवं मार्गदर्शन दे रहे हैं। डॉ० सुभाष कोठारी भी संस्थान की प्रकीर्णक अनुवाद योजना में संलग्न है अतः उनके प्रति भी आभारी हैं।

प्रकाशन की इस वेला में हम पार्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी के पदाधिकारियों के प्रति भी आभार प्रकट करते हैं, जिन्होंने प्रस्तुत पुस्तक के वाराणसी मुद्रण के द्वारान पर्याप्त सुविधा प्रदान कर सहयोग दिया है।

( ४ )

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में संस्थान के पूर्व मंत्री स्वर्गीय श्री किंतहलाल जी हिंगर की पुण्य स्मृति में उनके परिजनों ने दस हजार रु० का अनुदान प्रदान किया है, एतदर्थं हम उनके प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। ग्रन्थ के सुन्दर एवं सत्कर मुद्रण के लिए हम वर्द्धमान मुद्रणालय के भी आभारी हैं।

गणपतराज बोहरा

अध्यक्ष

सरदारमल कांकिरिया

महामंत्री

## विषयानुक्रम

विषय	गाया क्रमांक	पूँजी क्रमांक
<b>भूमिका</b>	.... ....	१-५६
मंगल और अभिधेय	.... ....	३
विविध प्रत्याल्यान	.... ....	३-५
सर्वे जीव जीमापना	.... ....	६-७
निन्दा, गही और आलोचना	.... ....	८
ममत्व छेदन और आत्म-धर्म स्वरूप	.... ....	९-११
मूलगुण, उत्तरगुण की आराधना	.... ....	९
पूर्वक आत्म-निन्दा	.... ....	१२
एकत्व भावना	.... ....	१३-१६
संयोग सम्बन्ध परिस्थाग	.... ....	१७
असंयम आदि की निन्दा और		
मिथ्यात्व का त्याग	.... ....	१८-१९
अज्ञात अपराध वालोचना	.... ....	२०
माया निहनन उपदेश	.... ....	२१
आलोचक का स्वरूप और मोक्षगामित्व	.... ....	२२-२३
शत्योद्धरण प्ररूपणा	.... ....	२४-२९
आलोचना फल	.... ....	३०
प्रायश्चित अनुसरण प्ररूपणा	.... ....	३१-३२
प्राण-हिंसा आदि का प्रत्याल्यान और		
असण आदि का परिस्थाग	.... ....	३३-३४
निर्दोष पालन, भाव शुद्ध और		
प्रत्याल्यान स्वरूप	.... ....	३५-३६
वैराग्य उपदेश	.... ....	३७-४०
पंडितमरण प्ररूपणा	.... ....	४१-५०
निर्वेद उपदेश	.... ....	५१-६७
पंच महात्म्रत रक्षा प्ररूपणा	.... ....	६८-७६
गुप्ति समिति प्रधान प्ररूपणा	.... ....	७७
तप माहात्म्य	.... ....	७८-७९
आत्मार्थ साधन प्ररूपणा	.... ....	८०-८४
अकृत योग और कृत योग के गुण- दोष की प्ररूपणा	.... ....	८५-८९

लिखित	गाथा क्रमांक	पृष्ठ नंबर
पंडितभरण प्ररूपणा	९०-९२	२३
अनआराधक स्वरूप	९३-९४	२३
आराधना माहात्म्य	९५	२३
विशुद्ध मन प्राधान्य	९६	२३
प्रमाद दोष प्ररूपणा	९७-९८	२३-२५
संवर माहात्म्य	९९-१००	२५
ज्ञान-प्राधान्य प्ररूपणा	१०१-१०६	२५-२७
जिनधर्म में श्रद्धा	१०७	२७
विविध त्याग प्ररूपणा	१०८-११०	२७
प्रत्याख्यान से समाधि प्राप्ति	१११-११२	२७
अरहंत आदि एक पद के शरण प्रहण एवं प्रत्याख्यान करने से आराधकत्व	११३-१२०	२७-२९
वेदना सहन का उपदेश	१२१-१२५	२९
अभ्युद्यतभरण प्ररूपणा	१२६-१२७	३१
आराधना पताका प्राप्ति प्ररूपणा	१२८-१३४	३१
संसारतरन और कर्म निस्तारण उपदेश	१३५-१३६	३३
आराधना के भेद और उसके फल	१३७-१३९	३३
सर्व जीव क्षमापना	१४०	३३
धीरभरण प्रशंसा	१४१	३३
प्रत्याख्यान पालन का फल	१४२	३३
परिशिष्ट	...	
(१) महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक में प्रयुक्त विशिष्ट शब्द	...	३४-४२
(२) महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक की गाथानुक्रमणिका	...	४३-४५
(३) सहायक ग्रन्थ सूची	...	४६-४७

## भूमिका

प्रत्येक धर्म परम्परा में धर्म ग्रन्थ का एक महत्वपूर्ण स्थान होता है। हिन्दुओं के लिए वेद, ब्रीदों के लिए श्रिपिटक, पारसियों के लिए अवेस्ता, ईसाइयों के लिए बाइबिल और मुसलमानों के लिए कुरान का जो स्थान और महत्व है, वही स्थान और महत्व जैनों के लिए आगम साहित्य का है। यद्यपि जैन परम्परा में आगम न तो वेदों के समान अपौरुषेय माने गये हैं और न ही बाइबिल और कुरान के समान किसी पैगम्बर के माध्यम से दिया गया ईश्वर का सदेश, अपितु वे उन अहंतों एवं क्रृषियों की वाणी का संकलन हैं, जिन्होंने साधना और अपनी आध्यात्मिक विशुद्धि के द्वारा सत्य का प्रकाश पाया था। यद्यपि जैन आगम साहित्य में अंग सूत्रों के प्रवक्ता तीर्थकरों को माना जाता है, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि तीर्थकर भी मात्र अर्थ के प्रवक्ता हैं, दूसरे शब्दों में वे चिन्तन या विचार प्रस्तुत करते हैं, जिन्हें शब्द रूप देकर ग्रन्थ का निर्माण गणधर अथवा अन्य प्रबुद्ध आचार्य या स्थविर करते हैं।<sup>१</sup>

जैन-परम्परा हिन्दू-परम्परा के समान शब्द पर उतना बल नहीं देती है। वह शब्द को विचार की अभिव्यक्ति का मात्र एक माध्यम मानती है। उसकी दृष्टि में शब्द नहीं, अर्थ ( तात्पर्य ) ही प्रधान है। शब्दों पर अधिक बल न देने के कारण ही जैन-परम्परा के आगम ग्रन्थों में यथाकाल भाषिक परिवर्तन होते रहे और वेदों के समान शब्द रूप में वे अक्षण नहीं बने रहे सके। यही कारण है कि आगे चलकर जैन आगम-साहित्य—अद्वैतागाधी आगम-साहित्य और शौरसेनी आगम-साहित्य ऐसी दो शाखाओं में विभक्त हो गया। इनमें अद्वैतागाधी आगम-साहित्य न केवल प्राचीन है अपितु वह महावीर की मूलवाणी के निकट भी है। शौरसेनी आगम-साहित्य का विकास भी अद्वैतागाधी आगम साहित्य के प्राचीन स्तर के इन्हीं आगम ग्रन्थों के आधार पर हुआ है। अतः अद्वैतागाधी आगम-साहित्य शौरसेनी आगम-साहित्य का आधार एवं उसकी अपेक्षा प्राचीन भी हैं। यद्यपि यह अद्वैतागाधी आगम-साहित्य भी

१. 'अर्थ भासह अरहा सुसं गमयति गणहरा'—बाबूदयकनिर्मुचित, गाथा ९२।

महाकीर के काल से लेकर वीर निर्वाण संवत् ९८० या ९९३ की बलभी की वाचना तक लगभग एक हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि में संकलित और सम्पादित होता रहा है। अतः इस अवधि में उसमें कुछ संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन भी हुआ है।

प्राचीन काल में यह अद्विमागधी आगम साहित्य—अंग-प्रविष्ट और अंगबाह्य ऐसे दो विभागों में विभाजित किया जाता था। अंग प्रविष्ट में ग्यारह अंग आगमों और बारहवें दृष्टिवाद को समाहित किया जाता था। जबकि अंगबाह्य में इनके अतिरिक्त वे सभी आगम ग्रन्थ समाहित किये जाते थे, जो श्रुतकेवली एवं पूर्वधर स्थविरों की रचनाएँ माने जाते थे। पुनः इस अंगबाह्य आगम-साहित्य को भी नन्दीसूत्र में आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त ऐसे दो भागों में विभाजित किया गया है। आवश्यक व्यतिरिक्त के भी पुनः कालिक और उत्कालिक ऐसे दो विभाग किये गये हैं। नन्दीसूत्र का यह वर्णकरण निम्नानुसार है—

श्रुत ( आगम )<sup>१</sup>

अंगप्रविष्ट		अंगबाह्य
आचारांग		
सूत्रकृतांग	आवश्यक	आवश्यक व्यतिरिक्त
स्थानाङ्ग		
समवायाङ्ग	सामाधिक	
ध्यात्वप्राप्तज्ञप्ति	चतुर्विशतिस्त्व	
ज्ञाताधर्मकथा	वन्दना	
उपासकदशांग	प्रतिक्रमण	
अन्तकृतदशांग	कायोत्सर्ग	
अनुत्तरीपातिकदशांग	प्रत्याख्यान	
प्रश्नव्याकरण		
विपाकसूत्र		
दृष्टिवाद		

१. नन्दीसूत्र—सं० मुनि मधुकर, सूत्र ७६, ७५-८१।

कालिक		उत्कालिक	
उत्तराध्ययन	वैश्रमणोपपात	दशवैकालिक	सूर्यंप्रज्ञप्ति
दशाश्रुतस्कन्ध	वेलन्धरोपपात	कल्पिकाकल्पिक	पौरुषीमंडल
कल्प	देवेन्द्रोपपात	चुल्लकल्पश्रुत	मण्डलप्रवेश
व्यवहार	उत्थानश्रुत	महाकल्पश्रुत	विद्याचारण विनिश्चय
निशीथ	समुत्थानश्रुत	ओपपातिक	गणिविद्या
महानिशीथ	नागपरिज्ञापनिका	राजप्रश्ननीय	ध्यानविभवित
ऋषिभाषित	निरयावलिका	जीवाभिगम	मरणविभवित
जम्बुदीपप्रज्ञप्ति	कल्पिका	प्रज्ञापना	आत्मविषोधि
द्वौपसागरप्रज्ञप्ति	कल्पावतंसिका	महाप्रज्ञापना	बीतरागश्रुत
चन्द्रप्रज्ञप्ति	पुष्पिता	प्र मादाप्रभाव	संलेखणाश्रुत
शुल्लिकाविमान-	पुष्पचूलिका	नन्दी	विहारकल्प
-प्रविभवित	वृष्णिदशा	अनुयोगद्वार	चरणविधि
महल्लिकाविमान-		देवेन्द्रस्तव	आतुरप्रत्याल्घ्यान
-प्रविभवित		तन्दुलवैचारिक	महाप्रत्याल्घ्यान
अंगचूलिका		चन्द्रवैध्यक	
बग्मचूलिका			
विवाहचूलिका			
अरुणोपपात			
वरुणोपपात			
गरुडोपपात			
धरणोपपात			

इस प्रकार हम देखते हैं कि नन्दीसूत्र में महाप्रत्याल्घ्यान का उल्लेख अंगबाह्य, आवश्यक-दृष्टिरिक्त उत्कालिक आगमों में हुआ है। पार्थिकसूत्र में आगमों के वर्गीकरण की जो शीली अपनायी गयी है उसमें नाम और क्रम में कुछ भिन्नता है। उसमें भी महाप्रत्याल्घ्यान को उत्कालिक आगमों में अद्वाइसवाँ स्थान मिला है। इसके अतिरिक्त आगमों के वर्गीकरण की एक प्राचीन शीली हमें यापनीय परम्परा के शौरसेनी आगम 'मूलाचार' में भी मिलती है। मूलाचार आगमों को चार भागों में वर्गीकृत करता है—( १ ) तीर्थकर-कथित ( २ ) प्रत्येकबृद्ध-

कथित (३) श्रुतकेवली कथित और (४) पूर्वधर्मकथित । पुनः मूलाचार में इन आगमिक ग्रन्थों का कालिक और उत्कालिक के रूप में वर्णिकरण किया गया है किन्तु मूलाचार में कहीं भी महाप्रत्याख्यान का नाम नहीं आया है । अतः पापनीय परम्परा इसे किस वर्ग में वर्णिकृत करती थी, यह कहना कठिन है ।

वर्तमान में आगमों के अंग, उपांग, छेद, मूलसूत्र, प्रकीर्णक आदि विभाग किये जाते हैं । यह विभागीकरण हमें सर्वप्रथम विविमार्गप्रसा (जिनप्रभ-१३वीं शताब्दी) में प्राप्त होता है ।<sup>१</sup> सामान्यतया प्रकीर्णक का अर्थ विविध विषयों पर संकलित ग्रन्थ ही किया जाता है । नन्दोसूत्र के टीकाकार मलयगिरि ने लिखा है कि तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करके श्रमण प्रकीर्णकों की रचना करते थे । परम्परानुसार यह भी मान्यता है कि प्रत्येक श्रमण एक-एक प्रकीर्णक की रचना करता था । समवायांग सूत्र में “चोरासीइं पण्णग सहस्राहं पण्णता” कहकर शृष्टभद्रेव के चौरासी हजार शिष्यों के चौरासी हजार प्रकीर्णकों का उल्लेख किया है ।<sup>२</sup> महावीर के तीर्थ में चौदह हजार सावुओं का उल्लेख प्राप्त होता है । यह उनके तीर्थ में रहीर्नामे वही नंबर सी बीड़ह हजार मानी गयी है । किन्तु आज प्रकीर्णकों की संख्या दस मानी जाती है ।

ये दस प्रकीर्णक निम्न हैं—

- (१) चतुश्चारण (२) आतुर प्रत्याख्यान (३) संस्तारक (४) चन्द्रवेष्यक
- (५) गच्छाचार (६) तन्दुलवैचारिक (७) देवेन्द्रस्तव (८) गणिविद्या
- (९) महाप्रत्याख्यान और (१०) मरण विधि ।

मुनि पृष्ठविजय जी द्वारा सम्पादित पद्मणयसुत्ताहं में दस प्रकीर्णकों के नाम निम्नानुसार हैं<sup>३</sup>—

- (१) चतुश्चारण (२) आतुरप्रत्याख्यान (३) भक्तपरिज्ञा (४) संस्तारक
- (५) तन्दुलवैचारिक (६) चन्द्रवेष्यक (७) देवेन्द्रस्तव (८) गणिविद्या (९)
- महाप्रत्याख्यान और (१०) वीरस्तव

दस प्रकीर्णकों को श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय आगमों की श्रेणी में मानता है । परन्तु प्रकीर्णक नाम से अभिहित इन ग्रन्थों का संग्रह किया जाय तो निम्न वाईस नाम प्राप्त होते हैं—

१. विविमार्गप्रसा—पृष्ठ ५५ ।

२. समवायांग सूत्र—मुनि मधुकर-८४वीं समवाय ।

३. पद्मणयसुत्ताहं, प्रस्तावना पृष्ठ २० ।

(१) चतुर्शरण (२) आतुरप्रत्याख्यान (३) भक्तपरिज्ञा (४) संस्थारक  
 (५) तंदुलवैचारिक (६) चन्द्रबेध्यक (७) देवेन्द्रस्तव (८) गणिविद्या  
 (९) महाप्रत्याख्यान (१०) वीरस्तव (११) ऋषिभाषित (१२) अजीवकल्प  
 (१३) गच्छाचार (१४) मरणसमाधि (१५) तित्योगालि (१६) आराधना-  
 पताका (१७) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति (१८) ज्योतिष्करण्डक (१९) अग्निविद्या  
 (२०) सिद्धप्राभृत (२१) सारावली और (२२) जोक्विभवित ।<sup>१</sup>

इसके अतिरिक्त एक ही नाम के अनेक प्रकीर्णक भी उपलब्ध होते हैं, यथा—‘आउर पञ्चकखान’ के नाम से तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं ।

इनमें से नन्दी और पाण्डिक के उल्कालिक सूत्रों के वर्ग में देवेन्द्रस्तव, तंदुलवैचारिक, चन्द्रबेध्यक, गणिविद्या, मरणविभवित, मरणसमाधि, महाप्रत्याख्यान—ये सात नाम पाये जाते हैं और कालिकसूत्रों के वर्ग में ऋषिभाषित और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति ये दो नाम पाये जाते हैं । इस प्रकार नन्दी एवं पाण्डिक सूत्र में नी प्रकीर्णकों का उल्लेख मिलता है ।<sup>२</sup>

यद्यपि प्रकीर्णकों की संख्या और नामों को लेकर परस्पर मतभेद देखा जाता है, किन्तु यह सुनिश्चित है कि प्रकीर्णकों के भिन्न-भिन्न सभी वर्गीकरणों में महाप्रत्याख्यान को स्थान मिला है ।

यद्यपि आगमों की संख्या और नामों का स्थान द्वितीयक है, किन्तु यदि हम भाषागत प्राचीनता और अध्यात्म-प्रधान विषय-कस्तु की दृष्टि से विचार करें तो प्रकीर्णक, कुछ आगमों की अपेक्षा भी महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं । प्रकीर्णकों में ऋषिभाषित आदि ऐसे प्रकीर्णक हैं, जो उत्तराध्ययन और दशवैकालिक जैसे प्राचीन स्तर के आगमों की अपेक्षा भी प्राचीन हैं ।<sup>३</sup>  
**महाप्रत्याख्यान-प्रकीर्णक**

महाप्रत्याख्यान-प्रकीर्णक (महापञ्चकखाण-पड़म्णीय) प्राकृत भाषा की एक पद्यात्मक रचना है । इसका सर्वप्रथम उल्लेख नन्दीसूत्र एवं पाण्डिक-सूत्र में प्राप्त होता है । दोनों ही ग्रन्थों में आवश्यक-व्यतिरिक्त उल्कालिक श्रूत के अन्तर्गत ‘महाप्रत्याख्यान’ का उल्लेख मिलता है ।<sup>४</sup>

१. पद्मण्यसुत्तार्द, पृष्ठ १८ । २. नन्दीसूत्र—मधुकर मुनि, पृष्ठ ८०-८१ ।

३. ऋषिभाषित आदि की प्राचीनता के सम्बन्ध में देखें—

डॉ० सामरसल जैन—ऋषिभाषित एक अव्ययन (प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर)।

४. (क) उक्कालिङ्ग अणेगविहृण्णत्त तं जहा—(१) दसवेआलिङ्ग……

(२९) महापञ्चकखाण, एवमाह ।—नन्दीसूत्र-मधुकर मुनि-पृष्ठ १५-१६२,

(ख) नमो तेसि खमासमणाण……अंगवाहिरं उक्कालिङ्ग भगवान् । तं जहा—  
 दसवेआलिङ्ग (१)……महापञ्चकखाण (२८) ।

(पाण्डिकसूत्र-देवचन्द्र लालभाई जैन, पुस्तकोद्धार, पृष्ठ ७६)

पादिकसूत्र वृत्ति में महाप्रत्याख्यान का परिचय देते हुए कहा गया है—“महाप्रत्याख्यानम् अत्रायं भावः स्थविरकल्पिका विहारेणैव संलीढाः प्रान्तेजनशानोच्चारं कुर्वन्ति, एवमेतत्सर्वम् सक्रिस्तरं वर्णते यत्र तत्महा-प्रत्याख्यानम् ।” अर्थात् जो स्थविरकल्पी जीवन की सन्ध्या बेला में विहार करने में असमर्थ होते हैं, उनके द्वारा जो अनशनव्रत (समाधिमरण) स्वीकार किया जाता है, उन सबका जिसमें विस्तार से वर्णन किया गया है, उसे महाप्रत्याख्यान कहते हैं ।<sup>१</sup> इस प्रकार पादिकसूत्र वृत्ति में मात्र स्थविरकल्पिकों के समाधिमरण का ही उल्लेख मिलता है । जिनकल्पी समाधिमरण कैसे स्वीकारते हैं, इस सम्बन्ध में पादिकसूत्र वृत्ति में कोई विवेचन नहीं दिया गया है ।

नन्दीसूत्र चूर्णि में महाप्रत्याख्यान का परिचय देते हुए कहा गया है—“थेरकप्येण जिणकप्येण वा विहूरित्ता अंते थेरकप्यिया बारस वासे संलेहं करेता, जिणकप्यिया पुण विहारेणैव संलीढा तहा वि जहाजुर्त् संलेहं करेता निष्वाधात् सचेट्ठा चेव भवन्नरिमं पञ्चवक्षंति, एतां सविस्थरं जत्थज्ञयणे वर्णिगज्जंति तमज्ञयणं महापञ्चकस्त्राणं ।” अर्थात् स्थविरकल्प और जिनकल्प के द्वारा विचरण करने वालों में से स्थविरकल्पी अन्तिम समय में (स्थिरवास करके) बारहू वर्ष में संलेखना करते हैं जबकि जिनकल्पी विहार करते हुए ही संलेखना के योग्य अवसर आ जाने पर संलेखना स्वीकार करते हैं और निरपवाद प्रयत्नपूर्वक जीवन पर्यन्त का (आहारादि का) प्रत्याख्यान करते हैं, इसका जिस अध्ययन में सविस्तार वर्णन किया गया है, वह अध्ययन महाप्रत्याख्यान है ।<sup>२</sup>

महाप्रत्याख्यान के विषय में नन्दीचूर्णि की इस व्याख्या से ऐसा लगता है कि उस समय स्थविरकल्पिकों और जिनकल्पिकों की संलेखना विधि में अन्तर था । स्थविरकल्पी बृद्धावस्था की स्थिति को जानकर अपनी विहारचर्या को स्थगित कर देते थे और एक स्थानपर स्थित होकर (स्थिरवास करके) क्रमिक रूप से आहारादि का त्याग करते हुए बारहू वर्ष तक की दीर्घ अवधि की संलेखना करते थे । इसका एक तात्पर्य यह भी है कि वे आहारादि में धीरेधीरे कमी करते हुए क्रमशः

१. पादिकसूत्र, पृष्ठ ७८ ।

२. नन्दीसूत्र चूर्णि, पृष्ठ ५० (प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, बाराणसी) ।

आहारादि के सम्पूर्ण त्याग की दिशा में आगे बढ़ते थे, जबकि जिनकल्पी सतत रूप से विहार करते रहते थे और जब उन्हें यह आभास हो जाता है कि अब विहारचर्या सम्भव नहीं है तो वे आहारादि का त्याग करके संलेखना स्वीकार कर लेते थे। इस तथ्य की पुष्टि बत्तमान में श्वेताम्बर और दिग्म्बर परम्परा की प्रचलित संलेखना विधि से ही जाती है। दिग्म्बर परम्परानुसार जब मुनि विहार करने में असमर्थ हो जाता है, यहीं तक कि उसके लिए भिक्षार्थ जाना भी जब सम्भव नहीं रहता है तो वह मुनि संलेखना स्वीकार कर लेता है क्योंकि इस परम्परा में दूसरों के द्वारा लाए गए आहार को ग्रहण करने की परम्परा नहीं है, जबकि श्वेताम्बर परम्परानुसार चृद्घावस्था में मुनि स्थिरवासी हो जाते हैं और कल्पाः आहारादि कम करते हुए संलेखना स्वीकार करते हैं। यह अलग बात है कि स्थिरवासी हो जाने के पश्चात् भी उन्हीं मुनि आहारादि कम नहीं करते हैं।

नन्दीचूर्ण में स्थविरकल्पियों और जिनकल्पियों की जो भिन्न-भिन्न संलेखना विधि बतलाई गई है, वह इन दोनों कल्पियों की चर्या की दृष्टि से उचित प्रतीत होती है। आज भी दिग्म्बर मुनि किसी न किसी रूप में जिनकल्प का पालन तो करते ही हैं और श्वेताम्बर मुनि स्थविरकल्प के निकट है। यह एक अलग बात है कि आज बारह वर्ष की संलेखना करने की विधि प्रचलन में नहीं रह गई है किन्तु बारह वर्ष की इस संलेखना विधि का उल्लेख दिग्म्बर परम्परा द्वारा मान्य यापनीय ग्रन्थ भगवती आराधना में भी मिलता है।<sup>१</sup> यापनीय परम्परा तो आपवादिक स्थिति में दूसरों के द्वारा लाए गए आहार को ग्रहण करने की अनुमति भी देती है। भगवती आराधना में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि संलेखना करने वाले मुनि के लिए चार मुनि आहारादि लाए और चार मुनि उस आहारादि की रक्षा करे।<sup>२</sup> इस प्रकार यापनीय परम्परा में भी स्थविरकल्प और जिनकल्प दोनों का उल्लेख मिलता है।

### नामकरण की साथैकता—

प्रस्तुत कृति को महाप्रत्याख्यान कहा गया है। प्रकीर्णक ग्रन्थों में महाप्रत्याख्यान और आनुप्रत्याख्यान—ये दोनों ग्रन्थ समाधिमरण की

१. भगवती आराधना, गाथा २५४।

२. वहीं, गाथा ६६१-६६३।

अवधारणा से सम्बन्धित हैं। महाप्रत्याख्यान शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है—सबसे बड़ा प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान का तात्पर्य त्याग से है। इस अनुसार सबसे बड़ा त्याग महाप्रत्याख्यान कहलाता है। व्यक्ति के जीवन में सबसे बड़ा त्याग यदि कोई है तो वह है—देह त्याग। प्रत्याख्यानपूर्वक देह त्याग करने को ही समाधिमरण कहा जाता है। समाधिमरण का विशेष उल्लेख होने से ही प्रस्तुत कृति को महाप्रत्याख्यान नाम दिया गया है। नन्दचूर्णि और पाक्षिकसूत्र में महाप्रत्याख्यान का परिचय देते हुए 'जिस प्रकार समाधिमरणका उल्लेख हुआ है, उससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि महाप्रत्याख्यान का सम्बन्ध समर्थितरण से है।'

समाधिमरण से सम्बन्धित विषयवस्तु बाले ग्रन्थों में महाप्रत्याख्यान के अतिरिक्त और भी अनेक ग्रन्थ हैं जैसे—आतुरप्रत्याख्यान, मरणविभक्ति, मरणसमाधि, मरणविशुद्धि, संलेखनाश्रुत, भक्तपरिज्ञा और आराधना आदि। समाधिमरण से सम्बन्धित इन सभी ग्रन्थों को एक ग्रन्थ में समाहित करके उसे 'मरणविभक्ति' नाम दिया गया है। उपलब्ध मरणविभक्ति में मरणविभक्ति, मरणसमाधि, मरणविशुद्धि, संलेखनाश्रुत, भक्तपरिज्ञा, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान और आराधना—ये आठ ग्रन्थ समाहित हैं। इन आठ ग्रन्थों में से मरणविभक्ति, मरणसमाधि, संलेखनाश्रुत, भक्तपरिज्ञा, आतुरप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान—इन ग्रन्थों के नाम हमें नन्दीसूत्र मूल और उसकी चूर्णि में मिलते हैं।<sup>१</sup> किन्तु शेष दो ग्रन्थ मरणविशुद्धि और आराधना के नाम नन्दीसूत्र मूल और उसकी चूर्णि में उपलब्ध नहीं हैं। महाप्रत्याख्यान का मरणविभक्ति में समाहित किया जाना इस बात का सूचक है कि वह समाधिमरण से सम्बन्धित रचना है। ग्रन्थ का महाप्रत्याख्यान नाम इसलिए भी सार्थक है कि इसमें प्राणी की रागात्मकता या आसक्ति के मूल केन्द्र शरीर के ही परित्याग पर बल दिया गया है, वस्तुतः इसी अर्थ में यह ग्रन्थ महाप्रत्याख्यान कहा जाता है।

**प्रकीर्णकों की मान्यता का प्रश्न—**

श्वेताम्बरों में चाहे ८४ आगम मानने वाली परम्परा हो, चाहे ४५ आगम मानने वाली परम्परा हो—दोनों ने प्रकीर्णक ग्रन्थों को आगम रूप में स्वीकार किया है। किन्तु स्थानकवासी और तेरापंथी परम्परा जो ३२ आगमों को ही मान्य कर रही है, उन्होंने दस प्रकीर्णक, जीतकाल्प,

१. (क) नन्दीसूत्र ८०।

(ख) नन्दीसूत्र ८०, चूर्णि पृष्ठ ५८।

**बोधनिर्युक्ति तथा महानिशीथ—** इस प्रकार कुल तेरह आगम ग्रन्थों को अस्वीकार करके ४५ आगमों में से ३२ आगमों को ही स्वीकार किया है। प्रकीर्णक तथा तीन अन्य ग्रन्थों को आगम लघु में अमान्य करने के जो कारण इन दोनों परम्पराओं द्वारा बताए जाते हैं, वे यह हैं कि प्रकीर्णकों तथा इन तीन ग्रन्थों में अनेक ऐसे कथन हैं जो मूल आगमों और इनकी परम्परागत मान्यताओं के विरुद्ध हैं।

मुनि किशनलाल जी ने प्रकीर्णकों को अमान्य करने के लिए निम्न-लिखित कारणों का उल्लेख किया है—

१. “आउरपञ्चकश्चाण, गाथा ८ में पंडितमरण का अधिकार कहा गया है। गाथा ३१ में सात स्थानों पर धन (परिश्रह) का उपयोग करने का आदेश है। गाथा ३० में गुरुमूला, साध्मिनी भक्ति आदि सात वोलों का निर्देश है। आउरपञ्चकश्चाण की साक्षी है किन्तु भत्तपट्टणा में नाम नहीं है। सावद्य (पाप सहित) भाषा का उपयोग सूत्र में नहीं हो सकता, इसलिए यह अमान्य है।”

२. “गणिविज्ञा पद्मने में भी ज्योतिष की प्रस्तुपण की है। उसके उदाहरण हैं—श्रवण, धनेष्ठा, पुर्णवसु—तीन नक्षत्रों में दीक्षा नहीं लेनी चाहिए (गाथा २२)। लेकिन २० तीर्थकरों ने श्रवण नक्षत्र में दीक्षा ग्रहण की, ऐसा आगमों में उल्लेख है। आगम में जिस कार्य को मान्य किया उसके विपरीत उसका निषेध करे, उसे कैसे मान्य किया जाए। उसका आधार क्या हो सकता है? आगे वहीं आया है—किसी-किसी नक्षत्र में गुरु की सेवा नहीं करनी चाहिए, लुञ्चन नहीं करना चाहिए—ये सब बातें आगम में अनुमोदित नहीं हैं। इसलिए इनको मान्य नहीं किया गया है।”

३. “तन्दुलवेयालिय में संठाण के सम्बन्ध में जो चर्चा है, वह आगमों में सूचित निर्देशों से भिन्न है। परस्पर मेल नहीं खाती। वहाँ लिखा है—पाचवें आरे के मनुष्य के अन्तिम संहनन और संठाण होता है। दूसरे आगमों में छह ही संठाण संहनन मनुष्यों में पाए जाने की सूचना है। परस्पर विरोधाभास से तन्दुलवेयालिय को बात कैसे मान्य की जा सकती है? ऐसे अप्रामाणिक वचन ‘चन्दगविज्ञप्त’ गाथा ९८ में साधु के उल्कुष्ठ

१. आगमों की प्रामाणिक संख्या : जयाचार्यकृत विवेचन-तुलसीप्रज्ञा-सं४ १६, अंक १ (जून १९९०)

तीन भक्तों का उल्लेख है जबकि अन्य आगमों की मान्यता में उल्कुष्ट पन्द्रह भव में सौक्ष जाता है।”

४. “देविन्दस्तव में स्त्री के लिए अहो सुन्दरी। आमन्त्रण है। आन्तरांग में स्त्री के लिए बहिन का सम्बोधन है। सुन्दरी का सम्बोधन समुचित नहीं है।”

५. “महापञ्चकस्त्राण गाथा ६२ में देवेन्द्र तथा चक्रवर्तीत्व समस्त जीव अनन्तबार उपलब्ध हुए हैं। प्रत्येक जीव चक्रवर्तीत्व अनन्तबार उपलब्ध नहीं हो सकते। कथन आगम विशद्ध है, इसको मान्य नहीं किया जा सकता।”

इस प्रकार यहीं हम देखते हैं कि मुनिजी ने आतुरप्रत्याख्यान, गणिविद्या, तंदुलवैचारिक, चन्द्रव एवं, देवेन्द्रस्तव और महाप्रत्याख्यान के कुछ कथन लेकर सभी प्रकीर्णकों को आगम विशद्ध बतलाने का प्रयास किया है। मुनि जो ने चन्द्रवैध्यक और तंदुलवैचारिक को अमान्य करने के लिए जो तक दिए हैं उनकी पुष्टि। उन्होंने आगम के कोई सन्दर्भ नहीं दिए हैं। सन्दर्भ के अभाव में उनके कथन की प्रामाणिकता कैसे स्वीकार की जा सकती है?

देवेन्द्रस्तव के बारे में उनका जो आक्षेप है वह कोई विशेष महत्व नहीं रखता, क्योंकि वही किसी मुनि ने नहीं बरत् किसी श्रावक ने अपनी पत्नी को सुन्दरी कहा है। पुनः सुन्दरी शब्द का प्रयोग तो उपासकदशांग<sup>१</sup> और भगवतीसूत्र<sup>२</sup> आदि आगमों में भी मिलता है।

आतुरप्रत्याख्यान, गणिविद्या और महाप्रत्याख्यान के सम्बन्ध में मुनि जी ने जो आक्षेप लगा रहा है, यहीं हम उनका यथासम्भव निराकरण करना चाहेंगे।

आतुरप्रत्याख्यान के सम्बन्ध में मुनि जी का आक्षेप यह है कि उसमें सात स्थानों पर धन के उपयोग करने का आदेश है, यह कथन साक्ष्य होने के कारण अमान्य है। गुरुभक्ति, साधार्मिक भक्ति आदि में सम्पत्ति का उपयोग होना किस अर्थ में साक्ष्य है, यह हमें समझ में नहीं आ रहा है। मुनि के लिए औद्योगिक रूप से भोजनादि चाहे न बनाए जाएँ किन्तु उन्हें जो दान दिया जाता है उसमें सम्पत्ति का विनियोग तो होता

१. उपासकदशांग—‘सुन्दरी एवं देवाणुपिया’, उद्गृह-पाइयसद्महणवो—पृष्ठ ९११-९१२।

२. भगवती ४/३३; उद्गृह-बर्द्धमाणसी कोश, भाग ४, पृष्ठ ७७६।

ही है। बिना धन के भोजन, वस्त्र और मुनि जीवन के उपकरण आदि प्राप्त नहीं किये जा सकते। तुलः प्रददन भवित और स्वधर्मी वास्तव्य का उल्लेख तो ज्ञाताधर्मकथा में तीर्थकर नामकर्म उपार्जन के सन्दर्भ में भी हुआ है।<sup>१</sup> अन्न, वस्त्रादि के दान को तो पृथ्यखप भी माना गया है। अपने इस कथन की पुष्टि में हम कहना चाहेंगे कि तीर्थकरों के द्वारा भी दीक्षा लेने के पूर्व दान देने का उल्लेख आगम ग्रन्थों में मिलता है।<sup>२</sup> हम मुनि जी से यह जानना चाहेंगे कि क्या तीर्थकर द्वारा दिया गया दान धन के विनियोग के बिना होता है? क्या वह सावद्य होता है? साधु-सावद्य भाषा न बोले, यह बात तो समझ में आ सकती है किन्तु वह गृहस्थ को उसके दान आदि कर्तव्य का बोध भी न कराए, यह कैसे मान्य किया जा सकता है? हमें समझ में नहीं आ रहा है कि साधर्मिक-भवित आदि का उल्लेख होने भाषा से आतुरप्रत्याख्यान जैसे चारित्रगुण और साधना प्रधान प्रकीर्णक को मुनि जी ने कैसे अमान्य बतलाने प्रयास किया है?

गणिविद्या को अस्वीकार करने का तर्क मुनि जी ने यह दिया है कि उसमें कुछ विशिष्ट नक्षत्रों में दीक्षा, केशलोच और शुरु सेवा आदि नहीं करने के लिए कहा गया है। आगे मुनि जी ने यह भी लिखा है कि गणिविद्या श्रवण नक्षत्र में दीक्षा लेने का निषेध करती है जबकि मुनि जी का कहना है—“२० तीर्थकरों ने श्रवण नक्षत्र में दीक्षा ग्रहण की, ऐसा आगमों में उल्लेख है। आगमों में जिस कार्य को मान्य किया जाए उसके विपरीत जो उसका निषेध करे, उसे कैसे मान्य किया जाए।” हम मुनि जी से पूछता चाहेंगे कि उनके द्वारा मान्य ३२ आगमों में कौन-सा ऐसा आगम ग्रन्थ है, जिसमें यह उल्लेख मिलता हो कि २० तीर्थकरों की दीक्षा श्रवण नक्षत्र में हुई। पता नहीं मुनि जी ने किस आधार पर यह कथन किया है। यदि वे आगमिक प्रमाण देते तो इस विषय में आगे विचार किया जा सकता था। दीक्षा के नक्षत्र आदि की चर्चा तो परवर्ती ग्रन्थों में ही है, आगमों में नहीं है। कम से कम ३२ आगमों में तो ऐसा कथन है ही नहीं। यहाँ हम एक बात और कहना चाहेंगे कि सैद्धान्तिक रूप से भले ही दीक्षा, केशलोच आदि के लिए नक्षत्र आदि का उल्लेख नहीं मिलता हो, किन्तु जहाँ तक हमें ज्ञात है चाहे वह स्थानकवासी, तेरापंथी या अन्य कोई भी परम्परा

१. ज्ञाताधर्मकथासूत्र ८/१४।

२. वही, ८/१५४।

हो, व्यक्तिगत में तो सभी दीक्षा मुहूर्त आदि देखते ही हैं और उसका पालन भी करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ महाप्रत्याख्यान को मुनि जी ने जयाचार्य द्वारा अस्वीकृत करने का कारण इस ग्रन्थ की ६२वीं गाथा बतलाया है। इस गाथा का मूल भाव यह है कि इस जीव ने देवेन्द्र, चक्रवर्तीर्थ एवं राज्यों के उत्तम भोगों को अनन्तबार भोगा है फिर भी इसे तृप्ति प्राप्त नहीं हुई है। इस सम्बन्ध में मुनि जी का कहना है—“इस गाथा में देवेन्द्र तथा चक्रवर्तीर्थ समस्त जीव अनन्तबार उपलब्ध हुए हैं, ऐसा कथन है। प्रत्येक जीव चक्रवर्तीर्थ अनन्तबार उपलब्ध नहीं हो सकते। यह कथन आगम विशद है, इसको मान्य नहीं किया जा सकता।” इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन इस प्रकार है कि प्रथम तो यह कथन समस्त जीवों के लिए है ही नहीं, जैसा कि मुनि जी ने कहा है। मूलगाथा में यह कहीं भी स्पष्ट रूप से नहीं लिखा है कि प्रत्येक जीव चक्रवर्तीर्थ अनन्तबार उपलब्ध हो सकते हैं और दूसरा यह एक उपदेशात्मक गाथा है इसका उद्देश्य मात्र यह बतलाना है कि अनेक बार श्रेष्ठ भोगों को प्राप्त करके भी यह जीव तृप्त नहीं हुआ है। इस सामान्य कथन को इसकी भावना के विपरीत अर्थ में लेना समुचित नहीं है। भारतीय गरीब है—यह एक सामान्य कथन है, इसका यह अर्थ लेना उचित नहीं होगा कि कोई भी भारतीय धनदान नहीं है।

मुनि जी ने अपने कथन में एक बार ‘समस्त जीव’ और दूसरी बार ‘प्रत्येक जीव’ कहकर प्रत्येक शब्द पर विशेष बल देकर ही इस ग्रन्थ को अमान्य बताया है। हमारे मतानुसार मुनि जी को यह आन्ति इस गाथा में लिखे हुए ‘पत्ता’ शब्द का ठीक से अर्थ न कर पाने के कारण हुई है, संभवतया मुनि जी ने इसी ‘पत्ता’ शब्द का अर्थ ‘प्रत्येक’ कर दिया है। वस्तुतः ‘पत्ता’ शब्द का अर्थ प्रत्येक नहीं होकर ‘प्राप्त किया’ ऐसा अर्थ है। यदि यहाँ इस रूप में ‘पत्ता’ शब्द का अर्थ किया जाता तो मुनि जी को ऐसी आन्ति नहीं होती।

यहाँ हम एक बात और स्पष्ट रूप से कहना चाहेंगे, वह यह कि आगम ग्रन्थों में जो भी कथन हैं, वे सब सारेक्षिक हैं। कोई भी जिनवचन निरपेक्ष नहीं होते। यदि निरपेक्ष दृष्टि से आगमों का अर्थ किया जाएगा तो जिन बतोंस आगमों को स्थानकवासी और तेरापथी सम्प्रदाय प्रामाणिक मान रहे हैं, उनमें भी ऐसी अनेक विसंगतियाँ दिखाई जा सकती हैं जो इनकी परम्परा के विशद मानी जाएगी। वास्तविकता तो यह है कि

प्रारम्भ में लोकाशाह और स्थानकवासी परम्परा को बत्तीस आगम ही उपलब्ध हो सके इसीलिए उन्होंने बत्तीस आगमों को ही मान्य रखा और जब एकबार बत्तीस आगमों को परम्परा उनके द्वारा स्वीकार कर ली गई तो फिर उसे परिवर्तित करने का प्रश्न ही नहीं उठता था। अतः बाद में प्रकीर्णकों के उपलब्ध होने पर भी उन्हें आगम रूप में मान्य नहीं किया।

प्रकीर्णकों में स्तिथोगाली, गणिविद्या आदि एक-दो प्रकीर्णक ऐसे भी हैं जो इसकी परम्परा से कुछ भिन्न कथन करते हैं, तो भी सामूहिक प्रकीर्णक साहित्य को अस्वीकार कर देना उचित नहीं है। ऐसी स्थिति में तो हमें अनेक आगम ग्रन्थों को भी अस्वीकार कर देना होगा, क्योंकि उनमें तो इन प्रकीर्णकों की अपेक्षा भी अधिक ऐसे कथन हैं जो इनकी मान्यताओं के विपरीत जाते हैं। सूर्यप्रज्ञप्ति में गणिविद्या की अपेक्षा अधिक सावधानप्रदेश है<sup>१</sup>। और जहाँ तक परम्पराओं से भिन्न कथन का प्रश्न है तो आगमों में प्रकीर्णकों की अपेक्षा भी जिन प्रतिमा और जिन पूजा के ज्यादा उल्लेख मिलते हैं, क्या ऐसे उल्लेख करने वाले स्थानांग<sup>२</sup>, ज्ञाताधर्मकथा<sup>३</sup> और राजप्रश्नीय<sup>४</sup> आदि को हम आगम रूप में आवने से इन्हाँर कहना चाहेंगे? जो भूल दिग्भारों ने श्वेताम्बर आगम साहित्य को अमान्य करने को की। संभवत वही भूल स्थानकवासी और तेरापंथी प्रकीर्णकों को अमान्य करके कर रहे हैं। इसका जो दुःखद परिणाम है वह यह कि स्थानकवासी और तेरापंथी समाज विशुद्ध रूप से उपदेशात्मक, तप प्रधान एवं चारित्र प्रधान इस विपुल ज्ञान सम्पदा से बंचित रह गया है। जबकि हमें देखना यह चाहिए कि ये ग्रन्थ मनुष्य के आध्यात्मिक, साधनात्मक एवं चारित्रिक मूल्यों के विकास में कितना योगदान करते हैं। यदि हमें इनके अध्ययन करने के पश्चात् ऐसा लगे कि इनमें उपयोगी सामग्री रही हुई है तो यतिकृति मान्यता भेद के रहते हुए भी इन्हें आगम रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए और इनके अध्ययन-अध्यापन को भी विकसित करना चाहिए।

१. सूर्यप्रज्ञप्ति, १०/१७ (श्रीहर्षपृष्ठामृत जैन ग्रन्थमाला)।

२. 'चत्तारि जिणपडिमांओ सऱ्बरयणामईओ'—स्थानांगसूत्र-सधुकर मुनि, ४/३३९।

३. 'पवरपरिहिया जिणपडिमाण अच्चणं करेह'—ज्ञाताधर्मकथा-सधुकर मुनि, १६/११८।

४. 'तासि णं जिणपडिमाण'—राजप्रश्नीयसूत्र-सधुकर मुनि, सूत्र १७७-१७९।

### ग्रन्थ में प्रयुक्त हस्तलिखित प्रतियों का परिचय—

मुनि श्री पुण्यविजय जी ने इस ग्रन्थ के पाठ निधरिण में निम्न प्रतियों का उपयोग किया था—

१. सं० : संघवीपाड़ा जैन ज्ञान भंडार की ताढ़पत्रीय प्रति ।
२. पु० : मुनि श्री पुण्यविजय जी महाराज की हस्तलिखित प्रति ।
३. सा० : आचार्य सागरनन्दसूरीश्वर जी द्वारा सम्पादित प्रति ।
४. ह० : मुनि श्री हंसविजय जी महाराज की हस्तलिखित प्रति ।

हमने क्रमांक १ से ४ तक की इन पाण्डुलिपियों के पाठ भेद मुनि पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित पद्मणार्थसुत्ताइ नामक ग्रन्थ से हो लिए हैं। इन पाण्डुलिपियों की विशेष जानकारी के लिए हम पाठकों से पद्मणार्थसुत्ताइ ग्रन्थ की प्रस्तावना के पृष्ठ २३-२७ देख लेने की अनुशंसा करते हैं।

### लेखक एवं रचनाकाल का विचार—

महाप्रत्याख्यान का उल्लेख यद्यपि नन्दीसूत्र, पाञ्चिकसूत्र आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है किन्तु इस ग्रन्थ के लेखक के सम्बन्ध में कहीं पर भी कोई निर्देश उपलब्ध नहीं होता है जो संकेत हमें मिलते हैं उसके आधार पर मात्र यही कहा जा सकता है कि यह ५वीं शताब्दी या उसके पूर्व के किसी स्थविर आचार्य की कृति है। इसके लेखक के सन्दर्भ में किसी भी प्रकार का कोई संकेत सूत्र उपलब्ध न हो पाने के कारण इस सम्बन्ध में अधिक कुछ भी कहना कठिन है।

किन्तु जहाँ तक इस ग्रन्थ के रचनाकाल का प्रश्न है, इतना तो सुनिश्चित रूप से कह सकते हैं कि यह ईस्वी सन् की ५वीं शताब्दी के पूर्व की रचना है क्योंकि महाप्रत्याख्यान का उल्लेख हमें नन्दीसूत्र एवं पाञ्चिकसूत्र के अतिरिक्त नन्दीचूर्णि आदि में भी मिलता है। पाञ्चिकसूत्र की वृत्ति तथा नन्दीचूर्णि में इस ग्रन्थ की विषयवस्तु का भी संक्षिप्त उल्लेख है। चूर्णियों का काल लगभग उवीं शताब्दी माना जाता है, अतः महाप्रत्याख्यान का रचनाकाल नन्दीचूर्णि से पूर्व ही होना चाहिए। पुनः महाप्रत्याख्यान का स्पष्ट निर्देश नन्दीसूत्र एवं पाञ्चिकसूत्र मूल में भी है। नन्दीसूत्र के कर्त्ता देववाचक के समय के सन्दर्भ में मुनि श्री पुण्यविजय जी एवं प० दलसुख भाई मालवणिया ने विशेष चर्चा की है। नन्दीचूर्णि में देववाचक को व्यगणी का शिष्य कहा गया है। कुछ विद्वानों ने नन्दीसूत्र के कर्त्ता देववाचक और आगमों को पुस्तकारूढ़ करने वाले देवद्विगणी

अग्रामण को एक ही मानने की आन्ति की हैं। इस आन्ति के शिकार मुनि श्री कल्याणविजय जी भी हुए हैं, किन्तु उल्लेखों के आधार पर जहाँ देवद्वि के गुरु आर्य शांडिल्य हैं, वहीं देववाचक के गुरु दूष्यगणी हैं। अतः यह सुनिश्चित है कि देववाचक और देवद्वि एक ही व्यक्ति नहीं हैं। देववाचक ने नन्दीसूत्र स्थविरावली में स्पष्ट रूप से दूष्यगणी का उल्लेख किया है।

पं० दलखसुखभाई मालवणिया ने देववाचक का काल वीर निर्वाण संवत् १०२० अथवा विक्रम संवत् ५५० माना है, किन्तु यह अन्तिम अवधि ही मानी जाती है। देववाचक उससे पूर्व ही हुए होंगे। आवश्यक नियुक्ति में नन्दी और अनुयोगद्वार सूत्रों का उल्लेख है, और आवश्यक—नियुक्ति को द्वितीय भद्रबाहु की रचना भी माना जाय तो उसका काल विक्रम की पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध ही सिद्ध होता है। इन सब आधारों से यह सुनिश्चित है कि देववाचक और उसके द्वारा रचित नन्दीसूत्र इसा की पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की रचना है। इस सन्दर्भ में विशेष जानने के लिए हम मुनि श्री पुण्यविजय जी एवं पं० दलखसुखभाई मालवणिया के नन्दीसूत्र की भूमिका में देववाचक के समय सम्बन्धी चर्चा को देखने का निर्देश करेंगे। चूंकि नन्दीसूत्र में महाप्रत्याख्यान का उल्लेख है, अतः इस प्रमाण के आधार पर हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि यह ग्रन्थ इसवी सन् की ५वीं शताब्दी के पूर्व निर्मित हो चुका था। किन्तु इसको रचना की उत्तर सीमा क्या हो सकती है, यह कह पाना कठिन है। महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक की अनेक गाथाएँ उत्तराध्ययन जैसे प्राचीन आगम में, आवश्यकनियुक्ति, उत्तराध्ययननियुक्ति तथा ओष्ठनियुक्ति आदि नियुक्तियों में तथा मरणविभवित, आतुरप्रत्याख्यान, चन्द्रवेध्यक, तिथोगाली, संस्तारक, आराधनापताका तथा आराधनाप्रकरण आदि प्रकीर्णकों में साथ ही यापनीय एवं दिग्म्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थों भगवती आराधना, भूलाचार, नियमसार, समयसार, भावपादुड आदि में हैं। ये सभी ग्रन्थ इसवी सन् की पाँचवीं-छठी शताब्दी के मध्य के हैं। यद्यपि यहाँ यह निर्धारित कर पाना कठिन है कि ये सभी गाथाएँ इन ग्रन्थों से महाप्रत्याख्यान में ली गई हैं या महाप्रत्याख्यान से ये गाथाएँ इन ग्रन्थों में गई हैं, फिर भी जो ग्रन्थ नन्दी से परवर्ती हैं उनमें ये गाथाएँ महाप्रत्याख्यान से ही गई होगी, यह माना जा सकता है। विशेष रूप से भूलाचार, भगवती आराधना आदि में उपलब्ध होने वाली समान गाथाएँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में महाप्रत्याख्यान से ही गई होगी। पुनः इस ग्रन्थ की उप-

संख्या ताडपनीय प्रतियाँ भी यही प्रभाणित करती है कि यह ग्रन्थ पर्वतेन्द्र रूप से प्राचीन है।

महाप्रत्यारूपान के रचनाकाल के सन्दर्भ में विचार करने के लिए एक महत्वपूर्ण साक्ष्य हमारे समक्ष यह है कि इसमें द्वादश-विध श्रुतस्कन्ध का उल्लेख हुआ है।<sup>१</sup> इसका तात्पर्य यह है कि जब कभी यह ग्रन्थ अस्तित्व में आया होगा तब तक द्वादश-विध श्रुतस्कन्ध अस्तित्व में आ चुके थे। उन्हें प्राय स्मरण रचना वाहिति द्वादश अंगों की अवधारणा जैन परम्परा में पर्याप्त प्राचीन है। द्वादशअंगों का उल्लेख स्थानांग<sup>२</sup>, समवायांग<sup>३</sup> आदि प्राचीन आगम ग्रन्थों में भी मिलता है। यद्यपि इस कथन से इस ग्रन्थ के रचनाकाल को निर्धारित कर पाने में कोई विशेष सहायता तो नहीं मिलती है किन्तु इस आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि जब द्वादश-विध श्रुतस्कन्ध अस्तित्व में आया होगा तब ही इस ग्रन्थ की रचना हुई होगी। ग्रन्थ में उल्लिखित द्वादश अंगों के कथन से यह अर्थ भी स्वतः ही कलीभूत होता है कि इस ग्रन्थ की रचना द्वादशअंगों की रचना के बाद तथा पूर्व साहित्य के लुप्त होने के पूर्व हुई होगी। इस ग्रन्थ में द्वादश अंगों का उल्लेख, किन्तु निर्याकृति, भाष्य और चूर्णों के नामों का अभाव यही सूचित करता है कि इस ग्रन्थ की रचना इसी की द्वितीय शताब्दी के बाद तथा पांचवीं शताब्दी के पूर्व कभी हुई होगी।

रचनाकाल के सम्बन्ध में ही एक और बात ध्यान देने योग्य है कि इस ग्रन्थ में समाधिमरण के प्रसंग में कहीं भी गुणस्थानों की चर्चा नहीं हुई है जबकि समाधिमरण की विषयवस्तु का प्रतिपादन करने वाले यापनीय परम्परा के मान्य ग्रन्थ भगवती आराधना और मूलाचार में भी गुणस्थानों की चर्चा की गई है। हमने अपने एक स्वतन्त्र निबन्ध में गुणस्थान की विकसित अवधारणा का काल तत्त्वार्थभाष्य के पश्चात् अर्थात् तीसरी शताब्दी के बाद और सर्वार्थसिद्धिटीका के पूर्व अर्थात् पांचवीं-छठीं शताब्दी के पूर्व माना है।<sup>४</sup> इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि गुणस्थान की अवधारणा लगभग पांचवीं शताब्दी के आसपास कभी पूर्णतः विकसित हुई है। इससे भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाप्रत्या-

१. गाथा, १०२।

२. स्थानांग १०/१०३।

३. समवायांग १/२।

४. अमण (जनवरी-मार्च १९९२)

ख्यान चौथी शताब्दी से पूर्व की रचना है। निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि महाप्रत्याख्यान दूसरों से चौथी शताब्दी के मध्य कभी निर्मित हुआ है।

### विषयवस्तु—

महाप्रत्याख्यान में कुल १४२ गाथाएँ हैं, जिनमें निम्नलिखित विषय वस्तु का विवरण उपलब्ध होता है—

ग्रन्थ का प्रारम्भ मंगलाचरण से करते हुए सर्वप्रथम तीर्थकरों, जिनदेवों, सिद्धों और संयमियों को प्रणाम किया गया है तत्पश्चात् वाह्य एवं अभ्यन्तर समस्त प्रकार की उपाधि का मन, वचन एवं काया—तीनों प्रकार से त्याग करने का कथन है (१-५)।

समस्त जीवों के प्रति समताभाव का कथन करते हुए कहा गया है कि सभी जीवों को मैं क्षमा करता हूँ और समस्त जीव मुझे क्षमा करे। साथ ही निन्दा करने योग्य कर्म की निन्दा, गहरी करने योग्य कर्म की गहरी और आलोचना करने योग्य कर्म की आलोचना करने का भी कथन है (६-८)।

इसमें व्यक्ति को यह प्रेरणा दी गई है कि वह ममत्व को स्वरूप को जानकर निमंमत्व में स्थिर रहे। आत्मा के विषय में कहा गया है कि आत्मा ही प्रत्याख्यान है तथा संयम व योग भी आत्मा ही है (९-११)। अग्रिम गाथा में मूलगुणों और उत्तरगुणों की सम्यक् परिपालन नहीं करने की निन्दा की गई है। उगाचार्यश्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'जैन आगम साहित्य मनन और भीमांसा' में महाप्रत्याख्यान की विषयवस्तु का वर्णन करते हुए इस गाथा का अर्थ इस प्रकार किया है—“साधक को मूलगुण और उत्तरगुणों का प्रतिक्रमण करना चाहिए।” मूल ग्रंथ को देखने से जात होता है कि वहाँ मूलगुणों और उत्तरगुणों का प्रतिक्रमण करने के लिए नहीं कहा गया है वरन् वहाँ तो स्पष्ट लिखा है कि प्रभाद के द्वारा मूलगुणों और उत्तरगुणों में जिन (गुणों) की मैं जो आराधना नहीं कर पाया हूँ, उस सबकी निन्दा करता हूँ (१२)।

आत्मा विषयक निरूपण करते हुए कहा गया है कि आत्मा ही व्यक्ति की स्व (अपनी) है, वैष समस्त पदार्थ उसके नहीं होकर पर (बाह्य) हैं। साथ ही दुःख परम्परा के कारण संयोग सम्बन्धों को त्रिविधि रूप से त्याग

१. जैन आगम साहित्य मनन और भीमांसा, पृष्ठ ३३०।

करने का उपदेश है (१३-१७)। निन्दा, गही, और आलोचना किसकी को जाए, इसके विषय में कहा गया है कि असंयम, अज्ञान और मिथ्यात्म आदि की निन्दा और गही तथा ज्ञात-अज्ञात सभी प्रकार के अपराधों की आलोचना करनी चाहिए (१८-२०)। माया के विषय में कहा गया है कि वह अपनाने के लिए नहीं बरत् त्यागने के लिए होती है। साधु को अपने समस्त दोषों की आलोचना माया एवं मद त्यागकर करनी चाहिए (२१-२३)।

कौन जीव सिद्ध होता है ? इस विषयक निरूपण करते हुए कहा गया है कि वही जीव सिद्ध होता है, जिसने माया आदि तीन शल्यों का मोचन कर दिया हो। मिथ्या, माया और निदान इन तीनों शल्यों को अनिष्ट-कारी बतलाते हुए कहा है कि समाधिकाल में यदि ये शल्य मन में उपस्थित रहते हैं तो बोधि की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है, परिणाम स्वरूप जीव अनन्तसंसारी हो जाता है। इसलिए सजग साधक पुनर्जन्म से बचने के लिए इन शल्यों को हृदय से निकाल फेंकता है (२४-२९)।

इसमें शिष्य के लिए यह उपदेश है कि उसे अपने द्वारा किये गये सभी कार्य-अकार्य को गुह के समक्ष यथारूप कह देना चाहिए और फिर गुह जो प्रायश्चित दे, उसका अनुसरण करना चाहिए (३०-३२)।

सभी प्रकार की प्राण-हिसा, असत्यवचन, अदत्तप्रहण, अत्र हृचर्य और परिग्रह को मन, बचन व काया से त्यागने का भी निर्देश है। लोक में योनियों के चौरासी लाख मुख्य भेद बतलाते हुए कहा है कि जीव प्रत्येक योनि में अनन्तबार उत्पन्न होता है (३३-४०)।

पण्डितमरण को प्रशंसनीय बताते हुए कहा गया है कि माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री ये सभी न तो किसी के रक्षणकर्ता हैं और न ही ब्राह्मदाता। जीव अकेला ही कर्म करता है और उसके फल को भी अकेला ही भोगता है। व्यक्ति को चाहिए कि वह नरक-लोक, तिर्यच-लोक और मनुष्य-लोक में जो देवनाएँ हैं उन्हें तथा देवलोक में जो मृत्यु है, उन सबका स्मरण करते हुए पण्डितमरण पूर्वक मरे। क्योंकि एक पण्डित-मरण सैंकड़ों भव-परम्परा का अन्त कर देता है (४१-५०)।

सचित आहार, विषयसुख एवं परिग्रह आदि की विशेष चर्चा करते हुए हृदें दुःखदायक बतलाया है तथा इनका त्याग करने की प्रेरणा दी गई है (५१-६०)। साथ ही क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष और त्रृणा को त्यागने तथा महाब्रतों का पालन करने का उपदेश है (६१-७०)।

आगे की गाथाओं में पट्टलेश्याओं और ध्यान से सम्बन्धित विवरण है, यहाँ कहा गया है कि कृष्ण, नील और कपोत लेश्या तथा आर्त और रौद्र ध्यान—ये सभी त्यागने योग्य हैं, किन्तु तेजो, पदम और शुक्ल लेश्या तथा धर्म और शुक्ल ध्यान—ये अपनाने योग्य हैं। पट्टलेश्याओं और ध्यान का विवरण स्थानांग<sup>१</sup>, समवायांग<sup>२</sup>, उत्तराध्ययन<sup>३</sup> आदि आगम ग्रन्थों में भी मिलता है (७१-७२)।

त्रिगुप्ति, पंचसमिति और द्वादश भावना से उपसम्पन्न होकर संयती पाँच महाव्रतों की रक्षा करने का कथन किया गया है (७३-७६)। साथ ही गुप्तियों और समितियों को ही व्यक्ति का व्यरणदाता एवं त्राणदाता बतलाया है (७७)।

आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध करने में सभी समर्थ नहीं हैं। आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध करने में कौन समर्थ है? यह कथन करते हुए कहा है कि यदि सद्पुरुष अनाकांक्षा और आत्मज्ञ हैं तो वे पर्वत की गुफा, शिलातल या दुर्गम स्थानों पर भी अपनी आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध कर लेते हैं (८०-८४)।

अकृत-योग और कृत-योग के गुण-द्वेष को प्रख्याणा करते हुए कहा है कि कोई श्रुत सम्पन्न भले ही हों, किन्तु यदि वह बहिर्मुखी इन्द्रियों वाला, छिन्न चारित्र वाला, असंस्कारित तथा पूर्व में साधना नहीं किया हुआ है तो वह मृत्यु के समय में अवश्य अधोर हो जाता है। ऐसा व्यक्ति मृत्यु के अक्सर पर परीष्वह महन करने में असमर्थ नहीं होता है। किन्तु जो व्यक्ति विषयसुखों में आसक्त नहीं रहता, भावीफल की आकांक्षा नहीं रखता तथा जिसके कथाय नष्ट हो गए हों, वह मृत्यु को सामने देखकर भी विचलित नहीं होता, अपितु तत्परतागूर्वक मृत्यु का आलिंगन कर लेता है (८५-९३)। वस्तुतः यही समाधिमरण की अवस्था है। प्रत्येक जैन मतावलम्बी अपने जीवन के अन्तिम क्षण में समस्त प्रकार के क्लेषों से मुक्त हो, राग-द्वेष को त्याग करके इसी प्रकार मरने की अभिलाषा करता है।

समाधिमरण का हेतु क्या है? इस विषय में कहा गया है कि न तो तृणों की वृद्धि समाधिमरण का कारण है और न प्रासुक भूमि हो,

१. स्थानांग १/१९१, ३/१५८, ३/४/५१५, ४/१/६०।

२. समवायांग ४/२०, ६/३१।

३. उत्तराध्ययन ३०/३५, ३१/८।

अपितु जिसका मन विशुद्ध होता है, दूसरे शब्दों में कहें तो जिसने चतुर्विध कषायों पर विजय प्राप्त कर ली हो, कही आत्मा संस्तारक होती है (९६)।

साधक जिस एक पद से धर्म मार्णे में प्रविष्ट होता है उस पद को सर्वाधिक महत्व दिया गया है और कहा है कि साधक को चाहिए कि वह जीवन के अन्तिम समय तक भी उस पद का परित्याग नहीं करे (१०१-१०६)।

ग्रन्थ में जिनेन्द्र देवों द्वारा प्ररूपित धर्म को कल्याणकारी बतलाया है तथा कहा है कि मन, वचन एवं काया से इस पर भृद्धा रखनी चाहिए क्योंकि यही निवाण प्राप्ति का मार्ग है (१०७)। आगे की गाथाओं में विविध प्रकार के त्यागों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जो मन से निन्तन करने योग्य नहीं है, वचन से कहने योग्य नहीं है, तथा शरीर से जो करने योग्य नहीं है, उन सभी निषिद्ध कर्मों का साधक त्रिविध रूप से त्याग करे (१०८-११०)।

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—इन पाँच पदों को पूजनीय माना गया है तथा कहा है कि इनका स्मरण करके व्यक्ति अपने पाप कर्मों का त्याग करे (११४-१२०)। वेदना विषयक चर्चा करते हुए कहा है कि यदि मुनि आलम्बन करता है तो उसे दुःख प्राप्त होता है। समस्त प्राणियों को समभावपूर्वक वेदना सहन करने का उपदेश दिया गया है (१२१-१२२)।

ग्रन्थ में जिनकल्पी मुनि के एकाकीविहार को जिनोपदिष्ट और विद्वतजनों द्वारा प्रशंसनीय बतलाया है तथा जिनकल्पियों द्वारा सेवित अभ्युद्यतमरण को प्रशंसनीय कहा है (१२६-१२७)। साधक के लिए कहा है कि वह चार कषाय, तीन गारव, पाँचों इन्द्रियों के विषय तथा परीषहोंका विनाश करके आराधनारूपी पताका को फहराए (१३४)।

संसार समुद्र से पार होने और कर्मों को क्षय करने का उपदेश देते हुए कहा गया है कि हे साधक ! यदि तू संसाररूपी महात्मागर से पार होने की इच्छा करता है तो यह विचार मत कर कि “मैं चिरकाल तक जीवित रहूँ अथवा शीघ्र ही मर जाऊँ ।” अपितु यह विचार कर कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और जिनवचन के प्रति सजग रहने पर ही मुक्ति सम्भव है (१३५-१३६)।

उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि ज्ञास्त्री ने अपने ग्रन्थ ‘जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा’ में महाप्रत्याख्यान की विषयबस्तु का वर्णन करते हुए

लिखा है कि साधक जघन्य व मध्यम आराधना से सात-आठ भव में मोक्ष प्राप्त करता है।<sup>१</sup> मूल ग्रन्थ को देखने पर ज्ञात होता है कि यद्यपि ग्रन्थ की गाथा १३७ में आराधना के चार स्कन्धों—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का तथा उसके तीन प्रकारों—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य का उल्लेख हुआ है, किन्तु आराधना फल को सूचित करने वाली गाथा १३८ में यह कहा गया है कि जो विज्ञ साधक इन चार स्कन्धों की उत्कृष्ट साधना करता है, वह उसी भव में मुक्त हो जाता है। पुनः गाथा १३९ में कहा गया है कि जो विज्ञ साधक चारों आराधना स्कन्धों की जघन्य साधना करता है वह शुद्ध परिणमन कर सात-आठ भव करके मुक्त हो जाता है। यहाँ ग्रन्थ में मध्यम आराधना के फल का कहीं कोई उल्लेख नहीं हुआ है। हम मुनि जी से जानना चाहेंगे कि उन्होंने किस आधार पर यह कहा है कि मध्यम आराधना वाला सात-आठ भव करके मोक्ष प्राप्त करता है। किसी अन्य ग्रन्थ के आधार पर उन्होंने यह कथन किया हो तो अलग बात है अन्यथा प्रस्तुत कृति में ऐसा कोई संकेत नहीं है जिससे उनके निष्कर्ष की पुष्टि की जा सके। यदि हमें मध्यम आराधना के फल को निकालना है तो उत्कृष्ट आराधना और जघन्य आराधना से प्राप्त फल के मध्य ही निकालना होगा अर्थात् यह मानना होगा कि व्यक्ति मध्यम आराधना से परिणामों की विशुद्धि के आधार पर कम से कम दो भव और अधिक से अधिक छह भव में मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

भगवती आराधना में भी मध्यम आराधना का फल बताते हुए यही कहा है कि मध्यम आराधना करके धीर पुरुष तीसरे भव में मुक्ति प्राप्त करते हैं।<sup>२</sup> पुनः उत्कृष्ट और जघन्य आराधना के फल के विषय में भी भगवती आराधना का कथन महाप्रत्याख्यान के समान ही है।<sup>३</sup>

ग्रन्थ का समापन यह कह कर किया गया है कि धैर्यवान् भी मृत्यु को प्राप्त होता है और कायर पुरुष भी, किन्तु मरना उसी का सार्थक है जो धीरतापूर्वक मरण को प्राप्त होता है। क्योंकि समाविमरण ही उत्तम मरण है। अन्तिम गाथा में कहा गया है कि जो संयमी साधक इस प्रत्याख्यान का सम्यक् प्रकार से पालन कर मृत्यु को प्राप्त होगे, वे मर कर या तो वैमानिक देव होंगे या सिद्ध होंगे।

१. जैन आगम साहित्य मनन अः र मीमांसा, पृ० २५०-२५१।

२. भगवती आराधना, गाथा २१५५।

३. भगवती आराधना, गाथा २१५४, २१५६।

### विषयबस्तु की सुलता

'महाप्रत्याल्यान' की अनेक गाथाएँ 'मरण विभक्ति' में ज्यों की त्यों ग्राप्त होती है। विस्तार भय के कारण यहाँ उन सभी गाथाओं को नहीं लिखकर भाव उनके क्रमांक ही लिख जा रहे हैं।

#### महाप्रत्याल्यान गाथा क्रमांक

१

३

१२

१८

२०

२१

२२

२५

२७

२८

२९

३०

३१

३२

३३

३४

३५

३६

३७

३९

४०

४१

४२

४३

#### मरण विभक्ति गाथा क्रमांक

२१०

२११<sup>१</sup>

२१७

२२०

१२०, २२२

१२३

१०१

२२६

११०, २२७

१११, २२८

११२, २२९

२३०

२३१

२३२<sup>२</sup>

२३३

२३४<sup>३</sup>

२३५

२३६

२३७

२३८

२३९

२४०

२४१

२४२

१. यहीं 'निरागार' के स्थान पर 'अणागार' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

२-३. यहीं चौथे चरण में मात्र शाब्दिक मिलता है, भाग्यत तो समानता ही है।

## महाप्रत्यास्थान गाथा क्रमांक

४४  
४५  
४६  
५०  
५२  
५४  
५५  
६०  
६२  
६३  
६४  
६५  
६६  
६७  
६८  
६९  
७०  
७१  
७२  
७३  
७४

## मरण विभक्ति गाथा क्रमांक

२४३<sup>१</sup>  
२४४  
२४५  
२४६  
२४७  
२४८<sup>२</sup>  
२४९  
२५१<sup>३</sup>  
२५२  
२५३  
२५४  
२५५  
२५६  
२५७<sup>४</sup>  
२५८  
२५९  
२६०<sup>५</sup>  
२६१<sup>६</sup>  
२६४<sup>७</sup>  
२६३

१. यहाँ प्रथम चरण में 'एकको करेह काम' के स्थान पर 'एकको जायह मरह थ'
- इन शब्दों का प्रयोग हुआ है।
२. इस गाथा में शब्द रूप में आंशिक भिन्नता है, किन्तु भावगत समानता है।
३. यहाँ तीसरे चरण में 'उदवाए' के स्थान पर 'परिभोगेण' शब्द प्रयुक्त हुआ है।
४. यहाँ दूसरे चरण में 'अट्ट रोहाइ' के स्थान पर 'सुप्पस्त्याणि' शब्द प्रयुक्त हुआ है।
५. यहाँ दूसरे चरण में 'धम्म-नुकाह' के स्थान पर 'सुप्स त्याणि' शब्द प्रयुक्त हुआ है, लेकिन भावगत समानता है।
६. यहाँ 'सच्चबिङ्क' के स्थान पर 'अप्पमत्तो' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

## महाप्रत्याख्यान गाथा क्रमांक

७५

७६

७७

७८

७९

८०

८१

८२

८३

८४

८५

८६

८७

८८

८९

९०

९१

९२

९३

९४

९५

९६

१. यहाँ प्रथम दो चरण में आंशिक रूप से शाविषक भिन्नता है।

२. यहाँ 'खुहित्मारह' के स्थान पर 'धणिथमाहस' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

३. यहाँ 'पदभार-कंदरगया' के स्थान पर 'गिरिकुहर-कंदरगया' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

४-५. यहाँ शब्द रूप में आंशिक भिन्नता होते हुए भी भावगत समानता है।

६. यहाँ 'विसयसुहसमुहसो अप्पा' शब्दों के स्थान पर 'विसयसुहपराहसो जीवो' शब्द प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु भावगत समानता है।

७. यहाँ 'मझपञ्च' के स्थान पर 'सुहभावो' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

८. यहाँ 'आराहणा' के स्थान पर 'आलोयणा' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

९. यहाँ 'माझो जस्त' के स्थान पर 'मरतस्त' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

## मरण विभवित गाथा क्रमांक

२६६<sup>१</sup>

२६५

२६७

२६८

२६९<sup>२</sup>२७०<sup>३</sup>२७१<sup>४</sup>२७२<sup>५</sup>

२७३

२७४

२७५

२७६<sup>६</sup>

२७७

२७८<sup>७</sup>

२७९

२८०

२८१

२८२

२८३

२८४

२८५<sup>८</sup>२८६<sup>९</sup>

## महाप्रत्यान गाथा क्रमांक

१७

१८

१९

१००

१०१

१०२

१०४

१०५

०६

१०७

१०८

११०

१११

११२

११४

१२०

१२१

१२६

१२७

१२८

१२९

१३०

१३२

१३३

१३४

१३५

१३६

१३७

१३८

१३९

१४१

१४२

## मरण विभक्ति गाथा क्रमांक

२८८

२८९

२९०

२९१<sup>१</sup>

१३५

२९३

२९५

२९४

२९६

२९७

२९८

२९९<sup>२</sup>

३००

३०१

३०२

३०३

३०४<sup>३</sup>

३०८

३०९

३१०<sup>४</sup>

३११

३१२<sup>५</sup>

३१३

३१४

३१५<sup>६</sup>

३१६

३१७

३१८

३१९

३२०

३२२<sup>७</sup>

३२३

<sup>१</sup>२८८, इन गाथाओं में आंशिक रूप से शान्तिक एवं भावगत भिन्नता है।

मरणविभक्ति के अतिरिक्त महाप्रत्याख्यान की गाथाएँ आगम साहित्य, प्रकीर्णक साहित्य, आगमिक व्याख्या साहित्य एवं दिगम्बर परंपरा में आगम रूप में मान्य ग्रन्थों में कहीं एवं किस रूप में उपलब्ध हैं, इसका तुलनात्मक विवरण इस प्रकार है—

- [१] एस करेमि पणामं तिल्यथराणं अणुस्तरगईणं ।  
सब्वेसि च जिणाणं सिद्धाणं संज्ञाणं च ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा १ )
- [२] सब्वदुबखप्पहीणाणं सिद्धाणं अरहो नमो ।  
सद्हे जिणपन्नतं पञ्चवत्वामि य पावगं ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा २ )
- [३] जं किञ्चि वि दुच्चरियं तमहं निदामि सब्वभावेण ।  
सामाइयं च तिविहं करेमि सब्वं निरागारं ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ३ )
- [४] बाहिरञ्जनं उवहिं सरीरादि सभोयणं ।  
मणसा वय काएणं सब्वं तिविहेण बोसिरे ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ४ )
- [५] रामं बधं पओसं च हरिसं दोणभावयं ।  
उस्युगतं भयं सोगं रहमरइं च बोसिरे ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ५ )
- [६] रोसेण पडिनिवेसेण अकृष्णयथा तहेव सद्याए ।  
जो मे किञ्चि वि भणिओ तमहं तिविहेण खामेमि ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ६ )

- [१] एस करेमि पणामं जिणवरवसहस्र वह्निमापास्स ।  
सेसाणं च जिणाणं सगणगणधराणं च सव्वेसि ॥  
(मूलाचार, गाथा १०६)<sup>१</sup>
- [२] (i) सब्बदुक्खप्पहीणाणं सिद्धाणं अरहभो नमो ।  
सद्दहे जिणपण्ठतं पच्चक्षामि य पावगं ॥  
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा १७)
- (ii) सब्बदुक्खप्पहीणाणं सिद्धाणं अरहदो नमो ।  
सद्दहे जिणपण्ठतं पच्चक्षामि य पावगं ॥  
(मूलाचार, गाथा ३७)
- [३] (i) जं किञ्चि मे दुच्चरितं सब्बं तिविहेण वोशरे ।  
सामाइयं तु तिविहं करेमि सब्बं णिरायारं ॥  
(नियमसार, गाथा १०३)
- (ii) जं किञ्चि मे दुच्चरियं सब्बं तिविहेण वोशरे ।  
सामाइयं च तिविहं करेमि सब्बं णिरायारं ॥  
(मूलाचार, गाथा ३९)
- [४] बज्ज्ञभंतरमुवर्हि सरीराईं च सभोयणं ।  
मणसा चिक्कायेण सब्बं तिविहेण वोशरे ॥  
(मूलाचार, गाथा ४०)
- [५] (i) रागं बंधं पओसं च हरिसं दीणभावयं ।  
उसुगतं भयं सोगं रईं अरईं च वोसिरे ॥  
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा २३)
- (ii) रायबंधं पदोसं च हरिसं दीणभावयं ।  
उसुगतं भयं सोगं रदिमरदि च वोसिरे ॥  
(मूलाचार, गाथा ४४)
- [६] (i) रागेण व दोसेण व जं मे अकारन्तुयापमाएणं ।  
जो मे किञ्चि वि भणिओ तमहं तिविहेण खामेमि ॥  
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा २५)
- (ii) रागेण य दोसेण य जं मे अकदण्हुयं पमारेण ।  
जो मे किञ्चिवि भणिओ तमहं सब्बं खमावेमि ॥  
(मूलाचार, गाथा ५८)

१. यही शब्द रूप में समानता नहीं होते हुए भी भावगत समानता है।

- [७] खामेमि सववजीवे सब्वे जीवा खमंतु मे ।  
आसवे वोसिरित्ताणं समाहिं पडिसंवए ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ७ )
- [८] निदामि निदपिञ्जनं गरहामि य जं च मे गरहणिञ्जनं ।  
आलोएमि य सववं जिणेहि जं जं च पडिकुट्ठं ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ८ )
- [९] ममतं परिजागामि निम्ममते उवटिळ्ठो ।  
आलंबणं च मे आया अवसेसं च वोसिरे ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ९ )
- [१०] आया मज्जां नाणे आया मे दंसणे चरिते य ।  
आया पच्चवखाणे आया मे संजमे जोगे ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ११ )

- [७] खमामि सब्बजीवाणं सब्बे जीवा खमंतु मे ।  
मिती मे सब्बभूदंसु वेर मज्जां य केणावि ॥  
(मूलाचार, गाथा ४३)\*
- [८] (i) निदामि निदणिज्जं गरहामि य जं च मे गरहणिज्जं ।  
आलोएमि य सब्ब सम्भितर बाहिरं उवहि ॥  
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा ३२)
- (ii) निदामि निदणिज्जं गरहामि य जं च मे गरहणीय ।  
आलोचेमि य सब्ब सम्भंतरस्त्राहिरं उवहि ॥  
(मूलाचार, गाथा ५५)
- [९] (i) ममत्त परिवज्जामि निम्ममत्तं उवट्टिओ ।  
आलंबणं च मे आवा, अवसेसं च वोसरे ॥  
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा २४)
- (ii) ममत्त परिवज्जामि णिम्ममत्तिमृवट्टिदो ।  
आलंबणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे ॥  
(नियमसार, गाथा ९९)
- (iii) ममत्त परिवज्जामि णिम्ममत्तिमृवट्टिदो ।  
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥  
(मूलाचार, गाथा ४९)
- [१०] (i) आया हु महं नाणे, आया मे दंसणे चरित्ते य ।  
आया पच्चवल्लाणे, आया मे संजमे जोगे ॥  
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा २५)
- (ii) आदा खु मज्ज णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।  
आदा पच्चवल्लाणे आदा मे संवरे जोगे ॥  
(नियमसार, गाथा १००)  
(भावपाहड, गाथा ५८)  
(मूलाचार, गाथा ४६)
- (iii) आदा खु मज्ज णाणे आदा मे दंसणं चरित्तं च ।  
आदा पच्चवल्लाणे आदा मे संवरो जोगो ॥  
(समयसार, गाथा २७७)

१. मात्र पहले दो चरण ही समान हैं ।  
२. मूलाचार में 'खु' के स्थान पर 'हु' है ।

- [११] मूलगुणे उत्तरगुणे जे मे नाऽऽराहिया पमाएर्ण ।  
ते सब्वे निदामि पडिकमे आगमिस्ताणं ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा १२ )
- [१२] एवं है नरेष मे कोई न वाद्यमवि कस्सही ।  
एवं अदीणमणसो अप्याणमणुसासए ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा १३ )
- [१३] एकको उप्यज्जए जीवो, एकको चेव विवज्जही ।  
एककस्य होइ मरणं एकको सिङ्गह नीरबो ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा १४ )
- [१४] एकको करेइ कम्म, फलमवि तस्सेक्कओ समणुहवइ ।  
एकको जायइ मरइ य, परलोयं एककओ जाइ ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा १५ )
- [१५] एकको मे सासओ अप्या नाण-दंसणलक्खणो ।  
सेसा मे बाहिरा भावा सब्वे संजोगलक्खणा ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा १६ )

- [११] (i) मूलगुण उत्तरगुणे जे मे नाऽऽराहिया पमाएणं ।  
तमहं सब्वं निदे पदिकमे आगमिस्ताणं ॥  
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा २९)
- (ii) मूलगुणउत्तरगुणे जो मे णाराहिओ पमाएण ।  
तमहं सब्वं णिदे पदिकमे आगममिस्ताणं ॥  
(मूलाचार, गाथा ५०)
- [१२] (i) एको हं नत्थि मे कोई, नत्थि वा कस्सई अहं ।  
न तं पेक्खामि जस्ताहं, न तं पेक्खामि जो महं ॥  
(चन्द्रवेद्यक, गाथा १६१)
- (ii) एगो हं नत्थि मे कोई, न याऽहमवि कस्सई ।  
वरं धम्मो जिणकखाङ्गो एत्थं मञ्ज्ञ बिङ्गजओ ॥  
(आराधनाप्रकरण, गाथा ६४)
- [१३] (i) एगो य मरदि जीवो एगो य जीवदि सथं ।  
एगस्स जादि मरणं एगो सिज्जदि णीरओ ॥  
(नियमसार, गाथा १०१)
- (ii) एओ य मरइ जीबो एओ य उबदज्जइ ।  
एयस्स जाइमरणं एओ सिज्जइ णीरओ ॥  
(मूलाचार, गाथा ४७)
- [१४] एको करेइ कम्मं एको हिंडिय दीहसंसारे ।  
एको जायदि मरदि य एवं चितेहि एयतं ॥  
(मूलाचार, गाथा ७०१)
- [१५] (i) एगो मे सासओ अप्पा नाणदंसणसंजुओ ।  
सेसा मे बाहिरा भावा सब्वे संजोगलक्खणा ॥  
(चन्द्रवेद्यक, गाथा १६०)  
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा २७)  
(आराधनाप्रकरण, गाथा, ६७)  
(आतुरप्रत्याख्यान (१), गाथा २९)
- (ii) एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।  
सेसा मे बाहिरा भावा सब्वे संजोगलक्खणा ॥  
(नियमसार, गाथा १०२)
- (iii) एओ मे सस्सओ अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।  
सेसा मे बाहिरा भावा सब्वे संजोगलक्खणा ॥  
(मूलाचार, गाथा ४८)

- [१६] संजोगमूला जीवेण पता दुक्ष्मपरंपरा ।  
तम्हा संजोगसंबंधं सब्वं तिविहेण वोसिरे ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा १७ )
- [१७] असंजममण्णार्ण मिळ्छत्तं सब्वओ वि य ममतं ।  
जीवेसु अजीवेसु य तं निदे तं च गरिहामि ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा १८ )
- [१८] जे मे जाणति जिणा अवराहा जेसु जेसु ठाणेसु ।  
ते हं आलोएमी उवट्टिओ सब्वभावेण ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा २० )
- [१९] उपन्नाऽणुप्पन्ना माया अणुमग्नाओ निहृतव्वा ।  
आलोयण-निदण-गरिहणाहि न पुण त्ति या बीयं ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा २१ )
- [२०] जह वालो जंपंतो कजजमकज्जं अ उज्जुर्यं अपइ ।  
तं तह आलोइज्जा माया-मथविष्यमुक्को उ ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा २२ )

(iv) एगो मे सस्सदो आदा णाणदंसणलवखणो ।

सेसा मे बाहिरा भावा सब्बे संजोगलक्खणा ॥

(भावधाहुड, गाथा ५९)

[१६] संजोयमूलं जीवेण पतं दुक्खपरंपरं ।  
तम्हा संजोयसंबंधं सब्बं तिविहेण बोसरे ॥

(मूलाचार, गाथा ४९)

[१७] (i) असंजममन्नाणं मिळ्छतं सब्बमेव य ममतं ।

जीवेसु अजीवेसु य तं निदेतं च गरिहामि ॥

(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा ३१)

(ii) असंजममण्णाणं मिळ्छतं सब्बमेव य ममति ।

जीवेसु अजीवेसु य तं णिदेतं च गरिहामि ॥

(मूलाचार, गाथा ५१)

[१८] (i) जे मे जाणति जिणा अवराहे नाण-दंसण-चरिते ।

ते सब्बे आलोए उवटिठओ सब्बभावेण ॥

(चन्द्रवेद्यक, गाथा १३२)

(ii) जे मे जाणति जिणा अवराहा 'जेसु जेसु'ठाणेसु ।

ते हं 'आलोएमी उवटिठओ सब्बभावेण ॥

(मरणविभक्ति, गाथा १२०)

(आराधनापताका (१), गाथा २०७)

(आतुरप्रत्याख्यान (२), गाथा ३१)

(iii) जे मे जाणति जिणा अवराहे जेसु जेसु ठाणेसु ।

तेहं 'आलोएतु' उवटितो सब्बभावेण ॥

(निशीथसूत्र भाष्य, गाथा ३८७३)

[१९] उप्पणाणुप्पणा, माया अणुमग्नतो णिहंतब्बा ।

आलोयण निदण गरहणा ते ण पुणो वि बिइयंति ॥

(निशीथसूत्र भाष्य, गाथा ३८६४)

[२०] (i) जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।

तं तह आलोएज्जा मायामोसं पमोत्तूणं ॥

(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा ३३)

१. तेसु तेसु ठा० आतुरप्रत्याख्यान ॥

२. 'लोए आराधनापताका ॥

- [२१] सोही उज्जुयभूयस्य धम्मो मुद्रस्स चिट्ठई ।  
निव्वाणं परमं जाइ घयसिते व पावए ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा २३ )
- [२२] न हु सिज्जाई ससल्लो जह भणियं सासणे धुयरयाणं ।  
उद्धरियसब्बसल्लो सिज्जाइ जीवो धुयकिलेसो ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा २४ )
- [२३] न वि तं सत्थं व विसं व दुष्पउत्तो व कुण्डं वेयालो ।  
जंतं दुष्पउत्तं सप्पो व पमायओ कुद्दो ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा २७ )

- (ii) जह बालो जंपतो कज्जमकज्जं च उज्जुर्यं भणइ ।  
तं तह आलोएज्जा माया-भयविष्पमुक्को य ॥  
(आराधनापताका, गाथा १७२)  
(आराधनाप्रकरण, गाथा १८)
- (iii) जह बालो जंपतो कज्जमकज्जं च उज्जुर्यं भणइ ।  
तं तह आलोएज्जा मायामयविष्पमुक्को उ ॥  
(ओघनिर्युक्ति, गाथा ८०१)  
(पंचाशक, गाथा ७४१)
- (iv) जह बालो जंपतो, कज्जमकज्जं च उज्जुर्यं भणति ।  
तं तह आलोएज्जा, मायामदविष्पमुक्को उ ॥  
(निशीथसूत्रभाष्य, गाथा ३८६३)
- (v) जह बालो जंपतो कज्जमकज्जं च उज्जुर्यं भणदि ।  
तह आलोचेयव्वं माया मोसं च मोत्तूण ॥  
(मूलाचार, गाथा ५६)
- (vi) जह बालो जंपतो कज्जमकज्जं च उज्जुर्खं भणइ ।  
तह आलोचेदव्वं मायामोसं च मोत्तूण ॥  
(भगवती आराधना, गाथा ५४३)

- [२१] सोही उज्जुर्यभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठुई ।  
निवाणं परमं जाइ घय-सित व्व पावए ॥  
(उत्तरार्थ्ययनसूत्र, गाथा ३/१२)
- [२२] न हु सुज्जह्वं ससल्लो जह भणियं सासणे धुयरयाणं ।  
उद्धरिय सब्बसल्लो सुज्जह्वं जीवो धुयकिलेसो ॥  
(आराधनापताका, गाथा २१८)  
(आराधनाप्रकरण, गाथा ८)  
(ओघनिर्युक्ति, गाथा ७९८)
- [२३] न वि तं सत्यं व विसं व दुष्पउत्तो व कुणह वेयालो ।  
जंतं व दुष्पउत्तं सप्पो व पमाहओ कुद्दो ॥  
(आराधनापताका, गाथा २१५)  
(आराधनाप्रकरण, गाथा ५)  
(ओघनिर्युक्ति, गाथा ८०३)  
(पंचाशक, गाथा ७३१)

१. आराधनाप्रकरण में 'सुज्जह्व' के स्थान पर 'सिज्जह्व' ।  
२. 'पमाहओ' के स्थान पर आराधनाप्रकरण में 'पमाहणो' और ओघनिर्युक्ति में 'पमाहणो' ।

- [२४] जं कुण्ड भावसल्लं अणुद्वियं उत्तिमद्ठकालम्मि ।  
कुल्लंभबोहियत्तं अणंतसंसारियत्तं च ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा २८ )
- [२५] तो उद्धरति गारवरहिया भूलं पुणश्चभवलयाणं ।  
मिञ्चादंसणसल्लं मायासल्लं नियाणं च ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा २९ )
- [२६] क्यपावो वि मणूसो आलोइय निदित्तं गुल्सगासे ।  
होइ अहरेगलहुको ओहरियभरु व्व भारवहो ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ३० )
- [२७] सब्य पाणारंभं पच्चक्खामी य अलियवयणं च ।  
सद्वसदिन्नादाणं अब्बंभं परिगगहं चेव ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ३२ )
- [२८] रासेण व दोसेण व परिणामेण व न दूसियं जं तु ।  
तं खलु पच्चक्खाणं भावविसुद्धं मुणेयव्वं ॥३६॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ३६ )
- [२९] उहूमहे तिरियम्मि य मयाइं बहुयाइं बालमरणाइं ।  
तो ताइं संभरतो पंडियमरणं मरीहामि ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ४१ )

- [२४] जं कुण्ड भावसल्लं अणुद्दियं तत्तमटुकालम्बि ।  
दुल्लहबोहीयतं अणेतसंसारियतं च ॥  
(आराधनापताका, गाथा २१६)  
(आराधनाप्रकरण, गाथा ६)  
(ओघनिर्युक्ति, गाथा ८०४)  
(पंचाशक, गाथा ७३२)
- [२५] तो उद्धरति गारवरहिया<sup>१</sup> मूलं पुण्डभवल्याणं ।  
मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं नियाणं च ॥  
(आराधनापताका, गाथा २१७)  
(आराधनाप्रकरण, गाथा ७)  
(ओघनिर्युक्ति, गाथा ८०५)
- [२६] कदपावो वि मणुस्सो आलोयणिंदओ गुरुस्यासे ।  
होदि अन्निरेण लद्धुओ उरुहिय भारोव्व भारवहो ॥  
(भगवती आराधना, गाथा ६१५)
- [२७] (i) सब्वं पाणारंभं पच्चक्खामि स्ति अलियदयणं च ।  
३सब्वमदिन्नादाणं मेहुण्ण परिगहं चेव ॥  
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा १३)  
(आराधनापताका, गाथा ५६३)  
(मूलाचार, गाथा ४१)
- (ii) सब्वं पाणाइवायं पच्चक्खाई मि अलियदयणं च ।  
सब्वमदत्तादाणं अब्बंभं परिगहं सब्वहा ॥  
(आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १२८४)
- [२८] रागेण व दोसेण व मणपरिणामेण दूसिदं जं तु ।  
तं पुण पच्चक्खाणं भावविसुद्धं तु पादब्वं ॥  
(मूलाचार, गाथा ६४५)
- [२९] (i) उड्ढमहे तिरियम्बि वि मयाणि जीवेण बालमरणाणि ।  
दंसण-नाणसहगओ पंडियमरणं अणुमरिस्सं ॥  
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा ४७)

१. आराधनाप्रकरण तथा पंचाशक में 'उत्तम' के स्थान पर 'उत्तिम' ।

२. ओघनिर्युक्ति में 'रहिया' के स्थान पर 'रहिता' ।

३. आराधनापताका में 'इन्नादाणं मेहुण्ण' के स्थान पर 'दित्तादाणं मेहुण्ण'  
तथा मूलाचार में 'दत्तादाणं मेहुण' ।

- [३०] माया-पितृ-बूँधि संसारत्थेहि पुरिओ लोगो ।  
बहुजोणिकासिएण न यते ताणं च सरणं च ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ४३ )
- [३१] एको करेह कन्म एको अणुहवइ बुक्कथिवागं ।  
एको संसरइ जिओ जर-मरण-चउरगईगुविलं ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ४४ )
- [३२] उच्चेयणर्थं जग्मण-मरणं नरएसु वेयणाओ वा ।  
एथाईं संभरतो रंडिमरणं लटीहादि ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ४५ )
- [३३] एको पंडियमरणं छिदह जाईसयाइ 'बहुयाइ' ।  
तं मरणं मरियब्बं जेण मओ सुम्मओ होइ ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ४६ )
- [३४] भवसंसारे सब्बे चउविहा पोगला मए बढा ।  
परिणामपसरोणं अटुविहे कन्मसंघाए ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ५१ )
- [३५] आहारनिमित्तागं मच्छा गच्छति दारूणे नरए ।  
सच्चित्तो आहारो न खमो मणसा वि पत्थेउं ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ५४ )
- [३६] तण-कट्टेण व अगी लवणजलो वा नद्देसहस्रेहि ।  
न इमो जीवो सब्बो तिष्ठेउं काम-भोगेहि ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ५५ )
- [३७] हंतूण मोहजालं छेतूण य अटुकम्मसंकलियं ।  
जग्मण-मरणरहटुं भेतूण भवाओ मृच्चहिसि ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ६६ )

(ii) उद्धमधो तिरियहि दु कदाणि वालमरणाणि बहुगाणि ।  
दंसणाणाणसहगदो पंडियमरणं अणुमरिस्से ॥  
(मूलाचार, गाथा ७५)

[३०] माया पिथा एहुसा भाया भज्जा पुत्ता य ओरसा ।  
नालं ते मम ताणाय लुप्पन्तस्स सकम्मुणा ॥  
(उत्तराध्ययनसूत्र, गाथा ६/३)<sup>१</sup>

[३१] एक्को क्लेह कम्मं एक्को द्विहृदि दीहसंसारे ।  
एक्को जायदि मरदि य एवं चितेहि एयतं ॥  
(मूलाचार, गाथा ७०१)

[३२] उब्बेयमरणं जादीमरणं णिरएसु वेदणाओ य ।  
एदाणि संभरतो पंडियमरणं अणुमरिस्से ॥  
(मूलाचार, गाथा ७६)

[३३] एगं पंडियमरणं छिद्दह जाईसयाणि बहुगाणि ।  
तं मरणं मरिदब्बं जेण सदं सुम्मदं होदि ॥  
(मूलाचार, गाथा ११७)

[३४] संसारचक्कवालम्मि मए सब्बेवि पुणाला बहुसो ।  
आहारिदा य परिणामिदा य ण य मे गदा तित्ती ॥  
(मूलाचार, गाथा ७९)<sup>२</sup>

[३५] वाहारणमिति किर मच्छा गच्छति सत्तमि पुढ़वि ।  
सच्चित्तो आहारो ण कप्पदि मणसावि पत्तेदु ॥  
(मूलाचार, गाथा ८२)

[३६] (i) तण-कट्ठेहि व अग्नी लवणजलो वा नईसहस्सेहि ।  
न इमो जीवो सक्को तिष्पेडं काम-भोगेहि ॥  
(बालुरप्रत्याख्यान, गाथा ५१)

(ii) तिणकट्ठेण व अग्नी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहि ।  
ण इमो जीवो सक्को तिष्पेदुं कामभोगेहि ॥  
(मूलाचार, गाथा ८०)

[३७] हंतूण रागदोसे छेतूण य अट्ठकम्मसंखलियं ।  
जम्मणमरणरहट्टं भेतूण भवाहि मुञ्चहसि ॥  
(मूलाचार, गाथा ९०)

१-२. यहाँ शब्द रूप में कुछ भिन्नता होते हुए भी भावगत समानता है ।

- [३८] कोहं भाण मायं लोहं पिज्जं तहेय दोसं च ।  
चडुक्ण अप्पमत्तो रक्खामि महब्बए पंच ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ६८ )
- [३९] किष्टु नीला काऊ लेसा क्षाणाहं अट्ट-रोददाहं ।  
परिवर्णितो गुलो रक्खामि महब्बए पंच ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ७१ )
- [४०] तेझ पम्हा सुक्का लेसा क्षाणाहं धम्म-सुक्काहं ।  
उवसंपन्नो जुतो रक्खामि महब्बए पंच ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ७२ )
- [४१] जइ ताव ते सुपुरिसा गिरिकडग-विसम-दुर्गेसु ।  
थिहधणियबद्धकच्छा साहिती अप्पणो अट्टु ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ८१ )
- [४२] कि पुण अणगारसहायगेण अणोण्णसंगहबलेण ।  
परलोएण सक्का साहेउ' अप्पणो अट्टु ? ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ८२ )
- [४३] जिणक्यणमप्पमेण महुरं कण्णाहुइं सुणंतेण ।  
सक्का हु साहुमज्जे साहेउ' अप्पणो अट्टु ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ८३ )

- [३८] कोहो माणो माया लोभे पिज्जे तहेव दोसे य ।  
मिच्छत वेअ अरइ रइ हास सोगे य दुगंछा ॥  
(उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा २४०)
- [३९] (i) किष्हा नीला काऊ तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ ।  
एयाहि तिहि वि जीबो दुगंइ उववज्जर्द बहुसो ॥  
(उत्तराध्ययनसूत्र, गाथा ३४/५६)  
(ii) किष्हा नीला काओ लेसाओ तिण्ठि अप्पस्थ्याओ ।  
पजहइ विरायकरणो संवेगंणुत्तरं पत्तो ॥  
(भगवती आराधना, गाथा १९०२)
- [४०] (i) तेक पम्हा सुक्का तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ ।  
एयाहि तिन्नि वि जीबो सुगंइ उववज्जर्द बहुसो ॥  
(उत्तराध्ययनसूत्र, गाथा ३४/५७)  
(ii) तेओ पम्हा सुक्का लेसाओ तिण्ठि वि दु पस्थ्याओ ।  
पडिवज्जेइ य कमसो संवेगंणुत्तरं पत्तो ॥  
(भगवती आराधना, गाथा १९०३)
- [४१] जइ ताव सावयाकुलगिरिकंदर्नविसमकष्टग-दुग्गेषु ।  
साहिति उत्तमद्धं घिइधणियसहायगा धीरा ॥  
(आराधनापत्ताका, गाथा ८९)\*
- [४२] (i) कि पुण अणगारसहायगेण अन्नोन्नसंगहृबलेण ।  
परलोइए न सक्का साहेउँ अप्पणो अट्ठुं ? ॥  
(आराधनापत्ताका, गाथा ९०).  
(ii) कि पुण अणगारसहायएण अण्णोण्णसंगहृबलेण ।  
परलोइयं ण सक्काह, साहेउँ उत्तिमो अट्ठो ॥  
(निशीयसूत्र भाष्य, गाथा ३९१३)
- (iii) कि पुण अणगारसहायगेण कीरयंतं पडिकम्मो ।  
सधे ओलगति आराधेदुँ ण सक्केज्ज ॥  
(भगवती आराधना, गाथा १५५४)
- [४३] (i) जिणवयगमप्पमेयं महुं कन्नामयं सुणितेण ।  
सक्का हु साहुमज्जे संसारमहोयहि तरिउ ॥  
(आराधनापत्ताका, गाथा ९१)

१. यहीं आंशिक रूप से शांखिक भिन्नता है।

[४४] धीरुरिसपण्तं सपुरिसनिसेवियं परमघोरं ।  
धना सिलायलग्या साहृती अप्यनो अद्भुतं ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ४४ )

- [४५] पुञ्चमकारियजोगो सामाहिकामो य मरणकालम्भि ।  
न भवइ परीसहस्रो विसयसुहस्रमुझओ अप्या ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ४६ )
- [४६] पुञ्चिं कारियजोगो सामाहिकामो य मरणकालम्भि ।  
स भवइ परीसहस्रो विसयसुहनिकारिओ अप्या ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ४७ )
- [४७] इदियसुहस्राउलओ घोरपरीसहपराइयपरज्ज्ञो ।  
अक्यपरिकम्म कीवो मुज्ज्ञाइ आराहणाकाले ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ४८ )

(ii) जिणवयणमप्यमेवं, महुरं कण्णाहृति सुर्णेतेर्ण ।  
सक्का हुं साहुमज्ज्ञे, संसारमहोर्यहि तरित् ॥  
(निशीथसूत्र भाष्य, गाथा ३९१४)

(iii) जिणवयणममिदभूदं महुरं कण्णाहृदि सुर्णेतेर्ण ।  
सक्का हुं संन्नद्वै लाटेहुं उत्तमं अद्वं ॥  
(भगवती आराधना, गाथा १५५५)

[४४] (i) धीरपुरिसपण्णत्तं सप्युरिसनिसेवियं परमधोरं ।  
धन्ना सिलायलगया साहंती उत्तमं अद्वं ॥  
(संस्तारक, गाथा ९२)

(ii) धीरपुरिसपन्त्तं सप्युरिसनिसेविए अणसणम्य ।  
धन्ना सिलायलगया निरावयक्खा निवज्जंति ॥  
(आराधनापताका, गाथा ८८)

(iii) धीरपुरिसपण्णत्ते, सप्युरिसणिसेविते परमरम्ये ।  
धण्णा सिलातलगता णिरावयक्खा णिवज्जंति ॥  
(निशीथसूत्र भाष्य, गाथा ३९११)

(iv) धीरपुरिसपण्णत्तं सप्युरिसणिसेवियं उवणमित्ता ।  
धण्णा णिरावयक्खा संथारगया णिसज्जंति ॥  
(भगवती आराधना, गाथा १६७१)

[४५] (i) एकमकारिद्जोगो पुरिसो मरणे उबट्टिए सते ।  
न भवइ परीसहसहो अंगेसु परीसहनिवाए ॥  
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ११९)

(ii) पुब्वमकारिद्जोगो समाधिकामो तहा मरणकाले ।  
न भवदि परीसहसहो विसयमुहे मुच्छिदो जीवो ॥  
(भगवती आराधना, गाथा १९३)

[४६] (i) पुर्विं कारिद्जोगो समाधिकामो य मरणकालम्म ।  
भवइ य परीसहसहो विसयमुहपरममुहो जीवो ॥  
(चन्द्रवेध्यक, गाथा १२०)

(ii) पुर्विं कारिद्जोगो समाधिकामो तहा मरणकाले ।  
होदि परीसहसहो विसयमुहपरममुहो जीवो ॥  
(भगवती आराधना, गाथा १९५)

[४७] हृदियसुहसाउलजो घोरपरीसहपराजियपरस्सो ।  
अकदपरिधम्म कीवो मुञ्जदि आराहणाकाले ॥  
(भगवती आराधना, गाथा १९१)

- [४८] लज्जाद्व गारवेण य बहुस्सुयमएण वा वि दुच्चरियं ।  
जे न कहिति गुरुणं न हुते आराह्ता होति ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ९४ )
- [४९] न वि कारणं तणमओ संथारो, न वि य फासुया भूमी ।  
अप्या खलु संथारो होइ विसुद्धो मणो जस्त ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ९५ )
- [५०] जं अन्नाणी कम्म खवेइ बहुयाहि वासकोडीहि ।  
तं नाणी तिहि गुत्तो खवेइ ऊसासमितेण ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा १०१ )
- [५१] न हु मरणमिम उवागे सक्ता बारसविहो सुयकसंधो ।  
सञ्चो अणुचितेऽ धंतं पि समत्यचित्तेण ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा १०२ )
- [५२] एकवामिम वि जन्मि पए संकेग कुण्ड वीयरायमए ।  
तं तस्त होइ नाण जेण विरागत्तणमुवेह ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा १०३ )

[४८] लज्जाइ गारवेण य बहुस्सुधमएण वाऽवि दुच्चरित्वा ।  
जे न कहति गुरुण न हु ते आराहगा हुंति ॥  
(उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा २१७)

[४९] (i) न वि कारणं तणमओ संथारो न वि य फासुया भूमी ।  
अप्या खलु संथारो हवइ विसुद्धे नरित्तमिम् ॥  
(संस्तारक, गाथा ५३)  
(ii) ण वि कारणं तणादोसंथारो ण वि य संघसमवाओ ।  
साधुस्स संकिलेसंतस्स य मरणावसाणमिम् ॥  
(भगवती आराधना, गाथा १६६७)<sup>१</sup>

[५०] (i) जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहि वासकोडीहि ।  
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ ऊसासमेत्तेण ॥  
(संस्तारक, गाथा ११४)  
(तित्योगाली, गाथा १२२३)  
(पंचवस्तु, गाथा ५६४)  
(ii) जं अणाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहि ।  
तं गाणी तिहि गुलो उवेदि उत्तरसवेत्तेण ॥  
(प्रवचनसार, गाथा ३/३८)

[५१] (i) न हु भरणमिम उवग्ने सक्का बारसविहो सुयक्खंधो ।  
सब्बो अणुचितेउं धणियं पि समत्थचित्तेण ॥  
(चन्द्रवेद्यक, गाथा ९६)  
(ii) न हु तम्म देसकाले सक्को बारसविहो सुयक्खंधो ।  
सब्बो अणुचितेउं धणियं पि समत्थचित्तेण ॥  
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा ५९)

[५२] (i) एकमिम वि जम्मि पते संवेगं कुणति वीयरागमते ।  
तं तस्स होति णाणं जेण विरागतणमुवेति ॥  
(विशेषावद्यकभाष्य, गाथा ३५७७)  
(ii) एकमिम वि जम्मि पए संवेगं वच्चए नरोऽभिक्षं ।  
तं तस्स होइ ताणं जेण विरागतणमुवेद ॥  
(चन्द्रवेद्यक, गाथा ९३)

१. मात्र एक चरण समान है ।

२. तित्योगाली में 'बहुयाहि' के स्थान पर 'बहुयाहि' ।

३. तित्योगाली में 'तिहि' के स्थान पर 'तिहि' ।

- [५३] एकमिमि वि जन्मि पए संवेगं कुणइ वीयरायमए ।  
सो तेण मोहजालं छिदइ अज्ञप्यथोगेण ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा १०४ )
- [५४] एकमिमि वि जन्मि पए संवेगं कुणइ वीयरायमए ।  
वच्चइ नरो अभिक्षं तं मरणं तेण मरिथब्बं ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा १०५ )
- [५५] समणो मि ति य पठमं, बीयं सञ्चत्थं संजओ मि ति ।  
सञ्चं च वोसिरामि जिणेहि जं जं च पडिकुटूळं ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा १०८ )
- [५६] अरहंता मंगलं मज्ज, अरहंता मज्ज देवया ।  
अरहंते कित्तहत्ताणं वोसिरामि ति पावगं ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ११५ )
- [५७] सिद्धा य मंगलं मज्ज, सिद्धा य मज्ज देवया ।  
सिद्धे य कित्तहत्ताणं वोसिरामि ति पावगं ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ११६ )
- [५८] आयरिया मंगलं मज्ज, आयरिया मज्ज देवया ।  
आयरिए कित्तहत्ताणं वोसिरामि ति पावगं ॥  
( महाप्रत्याख्यान, गाथा ११७ )

[५३] (i) एकमिम वि जम्मि पते संवेगं कुणति वीतरागमते ।  
सो तेण मोहजालं छिन्दति अज्ञाप्यजोगेण ॥  
(विशेषाकश्यकभाष्य, गाथा ३५७८)

(ii) एकमिम वि जम्मि पए संवेगं कुणद वीयरायमए ।  
सो तेण मोहजालं खवेइ अज्ञाप्यजोगेण ॥  
(चन्द्रबेध्यक, गाथा ९५)

[५४] (i) एकमिम दि हमित पद रिंग वीदरायमग्नमिम ,  
वच्चद नरो अभिक्खं तं मरणंते न मोत्तव्वं ॥  
(चन्द्रबेध्यक, गाथा ९४)

(ii) एगम्मि वि जम्मि पए संवेगं वीयरायमग्नमिम ।  
गच्छद नरो अभिक्खं तं मरणं तेण मरियव्वं ॥  
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा ६०)  
(iii) एकमिम वि जम्मि पदे संवेगं वीदरायमग्नमिम ।  
गच्छदि णरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तव्वं ॥  
(भगवती आराधना, गाथा ७७४)

(iv) एकहिं विदियहि पदे संवेगो वीयरायमग्नमिम ।  
वच्चदि णरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तव्वं ॥  
(मूलाचार, गाथा ९३)

[५५] (i) समणो त्ति अहं पठमं, बोयं सब्बत्य संज्ञो मि सि ।  
सञ्चं च वोसिरामी, एयं भणियं समाप्तिः ॥  
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा ६३)

(ii) समणो मेत्ति य पठमं विदियं सब्बत्य संज्ञो मेत्ति ।  
सञ्चं च वोस्सरामि य एदं भणिदं समाप्तेण ॥  
(मूलाचार, गाथा ९८)

[५६] अरहृता मंगलं मज्ज्ञ, अरहृता मज्ज्ञ देवया ।  
अरहृते कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥  
(आतुरप्रत्याख्यान (१), गाथा १)

[५७] सिद्धा य मंगलं मज्ज्ञ, सिद्धा य मज्ज्ञ देवया ।  
सिद्धे य कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥  
(आतुरप्रत्याख्यान (१), गाथा २)

[५८] आयरिया मंगलं मज्ज्ञ, आयरिया मज्ज्ञ देवया ।  
आयरिए कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥  
(आतुरप्रत्याख्यान (१), गाथा ३)

[५९] उज्ज्वाया मंगले मञ्जस, उज्ज्वाया मञ्जस देवया ।  
उज्ज्वाए कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥

( महाप्रत्याख्यान, गाथा ११८ )

[६०] राहु य संगले राहु, साहु य महन् देवया ।  
साहु य कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥

( महाप्रत्याख्यान, गाथा ११९ )

[६१] आराहणोवउत्तो सम्म काऊण सुविहिभो कालं ।  
उक्कोसं तिन्नि भवे गंतुण लभेज्ज नेवाणं ॥

( महाप्रत्याख्यान, गाथा १३१ )

[६२] सम्म मे सब्बभूएसु, वेरं मञ्जस न केणह ।  
खामेनि सब्बजीवे, खमामञ्हं सब्बजीवाणं ॥

( महाप्रत्याख्यान, गाथा १४० )

[६३] धीरेण वि मरियब्बं काउरिसेण वि अवस्स मरियब्बं ।  
दोणहं पि य मरणाणं वरं खु धीरत्तणे मरिडं ॥

( महाप्रत्याख्यान, गाथा १४१ )

[६४] एथं पञ्चक्षखाणं अणुपालेऊण सुविहिभो सम्म ।  
वेमाणिभो व देवो हृविज्ज अहृवा वि सिज्जेऊजा ॥

( महाप्रत्याख्यान, गाथा १४२ )

- [५९] उज्जाया मंगलं मज्जा, उज्जाया भज्जा देवया ।  
उज्जाए कित्तहत्ताणं वोसिरामि ति पावर्गं ॥  
(आतुरप्रत्याख्यान (१), गाथा ४)
- [६०] साहबो मंगलं मज्जा, साहबो मज्जा देवया ।  
साहबो कित्तहत्ताणं वोसिरामि ति पावर्गं ॥  
(आतुरप्रत्याख्यान (१), गाथा ५)
- [६१] (i) आराहणाइ जुत्तो सम्मं काऊण सुविहिओ कालं ।  
उक्कोसं तिण्णि भवे गंतूण लभेज्ज निक्षाणं ॥  
(वोद्भिन्निलित, गाथा ८०८)  
(ii) आराहणोबउत्तो सम्मं काऊण सुविहिओ कालं ।  
उक्कोसं तिण्णि भवे गंतूण लभेज्ज निक्षाणं ॥  
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ९८)  
(iii) आराहण उवजृत्तो कालं काऊण सुविहिओ सम्मं ।  
उक्कोसं तिण्णि भवे गंतूण य लहइ निक्षाणं ॥  
(मूलाचार, गाथा ९७)
- [६२] (i) सम्मं मे सब्बभूएसु वेरं मज्जा न केणहै ।  
आसाओ वोसिरित्ताणं समाहि पडिवज्जए ॥  
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा २२)  
(ii) सम्मं मे सब्बभूदेसु वेरं मज्जाण केणवि ।  
आसा वोसिरित्ताणं समाहि पडिवज्जए ॥  
(मूलाचार, गाथा ४२)  
(iii) सम्मं मे सब्बभूदेसु वेरं मज्जाण केणवि ।  
आसाए वोसिरित्ताणं समाहि पडिवज्जए ॥  
(नियमसार, गाथा १०४)
- [६३] (i) धीरेण वि मरियब्बं, काउरिसेण वि अवस्स मरियब्बं ।  
दोष्हं पि हु मरियब्बे वरं खु धीरत्तणे मरिउं ॥  
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा ६५)  
(ii) धीरेण वि मरिदब्बं णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदब्बं ।  
जहि दोहिं वि भरिदब्बं वरं हि धीरत्तणे मरिदब्बं ॥  
(मूलाचार, गाथा १००)
- [६४] एदं पञ्चक्षाणं जो काहृदि मरणदेसयालग्निम् ।  
धीरो अमूढसणो सो गञ्छद्व उत्तमं ठाणं ॥  
(मूलाचार, गाथा १०५)<sup>१</sup>

१. यही शब्द रूप में भिन्नता होते हुए भी भावगत समानता है ।

इस तुलनात्मक अध्ययन में हम यह पाते हैं कि महाप्रत्याख्यान की १४२ गाथाओं में से ४ गाथाएँ आगम साहित्य में, ८ गाथाएँ निर्युक्तियों में, ८ गाथाएँ भाष्य साहित्य में तथा मरणविभक्ति के अतिरिक्त ६० गाथाएँ अन्य प्रकीर्णकों में भी उपलब्ध होती हैं। जहाँ तक शौरसेणी यापनीय आगम तुल्य साहित्य का प्रश्न है, महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक की लगभग ४५ गाथाएँ मूलाचार और भगवती आराधना में भी उपलब्ध होती है। यापनीय साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ मूलाचार और भगवती आराधना में हम देखते हैं कि इनमें महाप्रत्याख्यान ही नहीं अपितु अनेकानेक प्रकीर्णकों की गाथाएँ शौरसेणी और अद्वैमागधी भाषायी रूपान्तरण को छोड़कर यथावत रूप में आत्मसात कर ली गई हैं। मूलाचार में आवश्यक-निर्युक्ति की अधिकांश गाथाएँ तथा समग्र आतुरप्रत्याख्यान का समाहित कर लिया जाना यही सूचित करता है कि प्रारम्भ में यापनीय परम्परा को प्रकीर्णक साहित्य मान्य था, किन्तु परवर्ती काल में जब प्रकीर्णक साहित्य एवं निर्युक्तिसाहित्य की गाथाओं के आधार पर मूलाचार और भगवती आराधना जैसे ग्रन्थों की रचना हो गई तो उस परम्परा में प्रकीर्णकों और निर्युक्तियों के अध्ययन की परम्परा भी विलुप्त हो गई। दिगम्बर साहित्य में ही हमें एक ऐसी भी गाथा उपलब्ध होती है जिसमें कहा गया है कि आचारांग आदि अंग ग्रन्थ एवं पूर्व प्रकीर्णक जिनेन्द्र देवों द्वारा प्ररूपित हैं।<sup>१</sup>

चाहे प्रत्यक्ष रूप में हो अथवा यापनीय साहित्य मूलाचार और भगवती आराधना के माध्यम से हो, प्रकीर्णक साहित्य की अनेक गाथाएँ कुन्दकुन्द के साहित्य में भी उपलब्ध होती हैं। अकेले महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक की ९ गाथाएँ कुन्दकुन्द के विभिन्न ग्रन्थों में उल्पलब्ध हो जाती हैं। भगवती आराधना और मूलाचार में इन गाथाओं की उपस्थिति से ऐसा प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में ये गाथाएँ भगवती आराधना और मूलाचार से ही अनुस्यूत हुई हैं। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या यह सम्भव नहीं कि कुन्दकुन्द साहित्य से ही ये गाथाएँ प्रकीर्णकों में गई हो? इस प्रश्न का सीधा और स्पष्ट उत्तर यही है कि अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि कुन्दकुन्द छठी शताब्दी से पूर्व के आचार्य नहीं हैं।

१. “आयारादी अंग पुक्ष पद्मणा जियेहि पणसा।

जे जे विराहिया खलु मिज्जा मे दुक्कड़ हुज्ज ॥”

—सिद्धान्तसारादिसंग्रह—कल्लाणालोयणा, गाथा २८

(माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई)

कुन्दकुन्द को पर्याप्त रूप से प्राचीन बताने वाला 'मर्कंरा अभिलेख' इति-हास के विद्वानों द्वारा जाली प्रमाणित किया जा चुका है।<sup>१</sup> मर्कंरा अभिलेख को जाली प्रमाणित किये जाने के पश्चात् नवीं शताब्दी से पूर्व का ऐसा कोई अन्य अभिलेख उपलब्ध नहीं है जिसमें कुन्दकुन्द या उनके अन्वय का उल्लेख हुआ हो। पुनः टीका और व्याख्याओं के पुग में हुए कुन्द-कुन्द के ग्रन्थों पर अमृतचन्द्र (दसवीं शताब्दी)<sup>२</sup> के पूर्व किसी अन्य आचार्य के द्वारा टीका का न लिखा जाना भी यह सिद्ध करता है कि कुन्दकुन्द पर्याप्त रूप से परवर्ती है। कुन्दकुन्द के साहित्य में गुणस्थान और सम्बन्धों की स्पष्ट अवधारणा मिलती है उससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि कुन्दकुन्द पाँचवीं शताब्दी के बाद के आचार्य हैं, क्योंकि गुणस्थान और सम्बन्धों की स्पष्ट अवधारणा चौथी-पाँचवीं शताब्दी में निर्मित हुई है यह उल्लेख हमने भूमिका के पूर्व पृष्ठों में भी किया है।<sup>३</sup> इस प्रकार कुन्दकुन्द को ईस्वी सत् की प्रथम शताब्दी में ले जाने का प्रथम न तो किसी अभिलेखीय साक्षण से सिद्ध होता है और न कोई ऐसा साहित्यिक साक्षण ही इस सम्बन्ध उपलब्ध होता है जो कुन्दकुन्द को प्रथम शताब्दी का प्रमाणित कर सके। कुन्दकुन्द के काल निर्धारण में हम प्रो॰ मद्युसुदन ढाकी से सहमत हैं उनके अनुमार कुन्दकुन्द लगभग छठी शताब्दी के बाद के आचार्य हैं।<sup>४</sup> इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि महाप्रत्याख्यान की गाथाएँ भगवती आराधना और मूलाचार से कुन्दकुन्द साहित्य में गई हैं।

इस तुलनात्मक अध्ययन में यह प्रश्न भी स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि महाप्रत्याख्यान में उपलब्ध होने वाली समान गाथाएँ आगम एवं निर्युक्तियों से इस ग्रन्थ में आई हैं अथवा इस ग्रन्थ से ये गाथाएँ आगम एवं निर्युक्तियों में गई हैं? जहाँ तक आगम साहित्य का प्रश्न है तो यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि महाप्रत्याख्यान में उपलब्ध होने वाली

### 1. Prof. M. A. Dhaky—

*Aspects of Jainology, Vol. 3,*

*Dalsukh Bhai Malvania felicitation, Vol. I, Page 190.*

2. नायुराम प्रेमी—पुरुषार्थसिद्धउपाय, भूमिका पृष्ठ ४।

3. देल्ली—भूमिका पृष्ठ १६-१७।

### 4. Prof. M. A. Dhaky—

*Aspects of Jainology, Vol. 3,*

*Dalsukh Bhai Malvania felicitation, Vol. I, Page 196.*

चारों समान गाथाएँ इसमें बागम साहित्य से ही ली गई हैं, क्योंकि ये चारों गाथाएँ उत्तराध्ययन सूत्र की हैं और वहाँ वे अपने समुचित स्थान एवं क्रम में हैं। साथ ही उत्तराध्ययन महाप्रत्याख्यान की अपेक्षा प्राचीन भी है, अतः यह निश्चिन्त है कि ये चारों गाथाएँ उत्तराध्ययन से ही महाप्रत्याख्यान में गई हैं। पुनः इस ग्रन्थ में द्वादश-विधि श्रुतस्कन्ध का उल्लेख हुआ है।<sup>१</sup> उससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि महाप्रत्याख्यान से पूर्व अंग आगम साहित्य की रचना हो चुकी थी।

जहाँ तक निर्युक्ति साहित्य का प्रबन्ध है, उसमें महाप्रत्याख्यान को ८ गाथाएँ पाई जाती हैं, इन आठ गाथाओं में से भी अधिकांश गाथाएँ मात्र ओघनिर्युक्ति में पाई जाती हैं। हमें ऐसा लगता है कि ये गाथाएँ महा-प्रत्याख्यान से ही ओघनिर्युक्ति में गई हैं, क्योंकि ओघनिर्युक्ति का उल्लेख नन्दीसूत्र में नहीं है, जबकि महाप्रत्याख्यान का उल्लेख नन्दीसूत्र में है। अतः यह मानना होगा कि ओघनिर्युक्ति की रचना महाप्रत्याख्यान के बाद ही हुई है, इस आधार पर यह कहना अधिक युक्तिसंगत लगता है कि ये गाथाएँ महाप्रत्याख्यान से ही ओघनिर्युक्ति में गई होगी।

चूणि साहित्य के विषय में तो हम यही कहना चाहेंगे कि चूणियों की रचना प्रकीर्णक साहित्य के बाद ही हुई है, क्योंकि नन्दीचूणि में तो महा-प्रत्याख्यान का स्पष्ट नामोल्लेख भी उपलब्ध होता है।<sup>२</sup> पुनः चूणियाँ तो मूलतः गद्य में ही लिखी गई हैं अतः उनमें महाप्रत्याख्यान की कोई गाथा उदृत भी हो तो यही मानना होगा कि उनमें ये गाथाएँ महाप्रत्याख्यान से ही गई हैं, क्योंकि कालक्रम की दृष्टि से जहाँ चूणियाँ सातवीं शताब्दी की है वहीं महाप्रत्याख्यान पाँचवीं शताब्दी के पूर्व की रचना है।

अपनी विषयवस्तु की दृष्टि से महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक एक साधना प्रधान ग्रन्थ है। इसमें मुख्य रूप से समाधिमरण तथा उसकी पूर्व प्रक्रिया का निर्देश उपलब्ध होता है। समाधिमरण जैन साधना का एक महत्व-पूर्ण अंग माना जा सकता है। जैन परम्परा में साधक चाहे मुनि हो अथवा गृहस्थ, उसे समाधिमरण ग्रहण करने की प्रेरणा दी गई है। महा-प्रत्याख्यान की कुछ गाथाएँ ऐसी हैं जो साधक को समाधिमरण ग्रहण करने की प्रेरणा देती हैं, कुछ अन्य गाथाएँ ऐसी भी हैं जो आलोचना आदि का निर्देश करती हैं, वस्तुतः वे समाधिमरण की पूर्व प्रक्रिया के रूप में

१. महाप्रत्याख्यान, गाथा १०२।

२. नन्दीचूणि, सूत्र ८१।

ही हैं। शेष अन्य गाथाओं का प्रयोजन साधक को समाधिमरण की स्थिति में अपनी मनोवृत्तियों को किस प्रकार रखना चाहिए, इसका निर्देश करना है।

समाधिमरण की अवधारणा जैन आगम साहित्य में आचारांग के काल से ही पाई जाती है। आचारांग का प्रथम श्रुत स्कन्ध न केवल समाधिमरण की प्रेरणा देता है, अपितु उसकी प्रक्रिया भी स्पष्ट करता है।<sup>१</sup> उत्तराध्ययनसूत्र के पांचवें अध्ययन में बालमरण और पंडितमरण के स्वरूप को लेकर विस्तृत चर्चा है।<sup>२</sup> जैन साहित्य में वर्णित अनेक जीवन चरित्र भी साधना के अन्त में समाधिमरण ग्रहण करते हुए ही चिह्नित किये गये हैं। प्रस्तुत गत्य महाप्रत्याख्यान जैसाकि इसके नाम से ही स्पष्ट है, वह भी समाधिमरण का ही सूचक है या दूसरे शब्दों में कहें तो यह समाधिमरण से ही संबंधित गत्य है।

समाधिमरण का तात्पर्य है कि जब मृत्यु जीवन के द्वार पर उपस्थित होकर अपने आगमन की सूचना दे रही हो तो साधक को चाहिए कि वह देह पोषण के प्रयत्नों का परित्याग कर दे तथा शरीर के प्रति निर्ममत्व भाव की साधना करे और द्वार पर उपस्थित मृत्यु से मुँह छिपाने की अपेक्षा उसके स्वामत हेतु स्वयं को तत्पर रखे। वस्तुतः समाधिमरण शान्त भाव से मृत्यु का आलिङ्गन करने की प्रक्रिया है वह साधना की परीक्षा घड़ी है। इसे हम यों समझ सकते हैं कि यदि किसी साधक ने जीवनभर वीतरागता और समता की साधना की हो, किन्तु मृत्यु के समय पर यदि वह विचलित हो जाए तो उसकी सम्पूर्ण साधना एक प्रकार से वैसे ही निष्कल हो जाती है, जैसे कोई विद्यार्थी यदि परीक्षा में सफल नहीं होता है तो उसका अध्ययन सार्थक नहीं माना जाता है। समाधिमरण हमारे जीवन की साधना की परीक्षा है और महाप्रत्याख्यान हमें उसी परीक्षा में खरा उत्तरने का निर्देश देता है।

समाधिमरण न तो जीवन से पलायन है और न ही बात्महत्या है, अपितु वह मृत्यु के आलिङ्गन की एक कला है और जिसने यह कला नहीं सीखी, उसका जीवन सार्थक नहीं बन पाता है। एक उर्दू शायर ने ठीक ही कहा है—

१. आचारांग, प्रथम श्रुत स्कन्ध, अध्ययन ८, छट्टेशक ६-८।

२. उत्तराध्ययन ५/२-३।

जो देखी हिस्ट्री, इस बात पर कामिल यकी आया।  
उसे जीना नहीं आया, जिसे मरना नहीं आया ॥

वस्तुतः महाप्रत्याख्यान हमारे साथने एक ऐसी अनासक्त जीवन दृष्टि प्रस्तुत करता है जिससे हमारा जन्म और मरण दोनों ही सार्वक बन जाते हैं। महाप्रत्याख्यान की इस जीवन दृष्टि को हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं—

लाई हयात आ गए, कजा ले चली चले चले ।  
न अपनी खुशी आए, न अपनी खुशी गए ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाप्रत्याख्यान एक ऐसा ग्रन्थ है जो हमें जीवन जीने की नवीन दृष्टि प्रदान करता है। ऐसे उदात्त जीवन मूल्यों को प्रतिपादित करने वाले प्रकोणक साहित्य को आगम, धर्मसान्समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर ने लानुवाद प्रकाशित करने का जो निर्णय किया है उसकी सार्वकता तभी है जब इन प्रकोणकों का अध्ययन करके हम इनमें प्रतिपादित जीवन मूल्यों को अपने जीवन में उतार सकें।

वाराणसी

१२ दिसंबर, १९९१

सागरमल जैन  
सुरेश सिंहोद्धिया

## महापञ्चकखण्डाण्य

( मंगलमभिधेयं च )

एस करेमि पणामं तित्थयराणं अणुत्तरगद्वैणं ।  
सब्देसि च जिणाणं सिद्धाणं संजयाणं च ॥ १ ॥

सब्दुखप्यहीणाणं सिद्धाणं अरहूओ नमो ।  
सद्वहे जिणपन्नतं पञ्चकखामि य पावणं ॥ २ ॥

( विविहा वोसिरणा )

जं किञ्चि वि दुच्चरियं तमहं निदामि सब्दभावेण ।  
सामाद्यं च तिविहं करेमि सब्दं निरागारं ॥ ३ ॥

वाहिरज्जमंतरं उवहि सरीरादि सभोयणं ।  
मणसा वय काएणं सब्दं तिविहेण वोसिरे ॥ ४ ॥

रागं<sup>१</sup> बंधं पओसं च हरिसं दोणभावयं ।  
उसुगतं भयं सोगं रइमरई<sup>२</sup> च वोसिरे ॥ ५ ॥

( सब्दजीवखामणा )

रोसेण पडिनिवेसेण अक्यण्णुयया<sup>३</sup> तहेव सद्याए ।  
जो मे किञ्चि वि भणिओ<sup>४</sup> तमहं तिविहेण खामेमि ॥ ६ ॥

खामेमि “सब्दजीवे सब्दे जीवा खमंतु मे ।  
‘आसवे वोसिरित्ताणं समाहि पडिसंधाए ॥ ७ ॥

१. रागबंधं सा० । २. °रयं च सं० । ३. °ण्णुयाए तहेवसज्जाए पु० सा० ।  
४. °ओ तिविहं तिविहेण सापा० । ५. सब्दे जीवे सं० । ६. आसाओ  
बो० पु० सा० ।

## महाप्रत्यारूप्यान प्रकीर्णिक

### ( मंगल और अभिषेय )

- (१) इस प्रकार ( मैं ) सिद्धाति को प्राप्त समस्त तीर्थकरों, जिनदेवों, सिद्धों और संथमियों को प्रणाम करता हूँ।
- (२) समस्त दुःखों से सर्वथा मुक्त सिद्धों और लहूतों को नमस्कार हो। जिनप्रशस्त तत्त्व-स्वरूप पर ( मैं ) अद्वा रखता हूँ और पापकर्म का प्रत्यारूप्यान करता हूँ।

### ( श्रिविष्णु प्रत्यारूप्यान )

- (३) जो कुछ भी मेरा दुश्चरित्र है, उसकी ( मैं ) सर्वभाव से निदा करता हूँ और सभी प्रकार के अपवाद से रहित सामायिक को श्रिविष्णु रूप से ग्रहण करता हूँ।
- (४) ( समाधिभरण ग्रहण करने वाला साधक ) सभी प्रकार के बालु और अभ्यन्तर परिप्लाह, भोजन एवं शरीर आदि का मनसा, वाचा एवं कर्मणा तीनों प्रकार से त्याग करे।
- (५) ( साधक ) राग-द्वेष रूप बन्धन, हर्ष-विषाद, उत्सुकता, भय-शोक और रति-अरति ( सभी ) का त्याग करे।

### ( सर्वं जीवं क्षमापना )

- (६) ( साधक ऐसा कहे कि ) रोष, पदचाताप, कृतज्ञता तथा कपट-वृत्ति से जो कुछ भी मेरे द्वारा कहा गया है, उसके लिए मैं श्रिविष्णु रूप से क्षमा माँगता हूँ।
- (७) समस्त जीवों को ( मैं ) क्षमा करता हूँ, समस्त जीव मुझे क्षमा करें। आश्रवों को त्यागकर ( मैं ) समाधि का प्रतिसन्धान करता हूँ ( अर्थात् अपने को समाधि से योजित करता हूँ )।

## ( निदणा-गरहणा-आलोदणावो )

निदामि निदणिङ्गं भरहामि य जं ध मे गरहणिङ्गं ।  
आलोएमि य सब्वं जिणेहि जं जं च 'पडिकुट्ठं ॥ ८ ॥

## ( ममत्तछेयणं आयधम्मसरूपं च )

उवही सरीरं चेव आहारं च चरविहं ।  
ममत्तं सब्वदव्वेसु परिजाणामि केवलं ॥ ९ ॥  
ममत्तं परिजागामि निम्ममत्ते उवटिळ्यो ।  
आलंबणं च मे आया अवसेसं च वोसिरे ॥ १० ॥  
आया मज्जां नाणे आया मे इंसणे चरित्ते य ।  
आया यच्चवक्षाणे आया मे संजमे जोगे ॥ ११ ॥

## ( मूलुत्तरगुणाराहणापुञ्चं निदणाद्वपलवणं )

मूलगुणे उत्तरगुणे जे मे नाऽराहिया पमाएणं ।  
ते सब्वे निदामि पडिक्कमे आगमिस्साणं ॥ १२ ॥

## ( एगस्तभावणा )

एकको हं नत्यि मे कोई, न चाहमवि कस्सई ।  
एवं अदीणमणसो अप्याणमणुसासए ॥ १३ ॥  
एकको उप्पज्जए जीवो, एकको त्रिवेव विवर्जई ।  
एककस्स होइ मरणं एकको सिज्जह नीरओ ॥ १४ ॥

( निन्दा, गह्रा और आलोचना )

- (८) निन्दा करने योग्य की ( मैं ) निन्दा करता हूँ और गह्रा करने योग्य मेरे जो दोष हैं, उनकी गह्रा करता हूँ तथा जोन्जो भी ( पाप कर्म ) जिनदेवों के द्वारा निषिद्ध हैं, उन सबकी ( मैं ) आलोचना करता हूँ ।

( ममत्व छेदन और आत्म-धर्म स्वरूप )

- (९) शरीर संबंधी चारों प्रकार के आहार, उपकरण तथा सर्वद्रव्यों की असहाय-दशा एवं उनके प्रति रहे हुए ( मेरे ) ममत्व को ( मैं ) जानता हूँ ।
- (१०) निर्ममत्व ( अर्थात् वैराग्य भाव ) में उपस्थित ममत्व को ( मैं ) जानता हूँ । आत्मा ही मेरा आलम्बन है ( यह जानकर साधक ) जोष सभी ( परद्रव्यों का ) त्याग करे ।
- (११) आत्मा मेरा ज्ञान है, आत्मा ही मेरा दर्शन और चारित्र है । आत्मा ही प्रत्याख्यान है तथा आत्मा ही मेरा संयम और योग ( कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया ) है ।

( मूलगुण, उत्तरगुण की आराधना पूर्वक आत्म-निन्दा )

- (१२) प्रमाद के कारण मूलगुण और उत्तरगुण में जिन ( गुणों ) की आराधना मैं नहीं कर पाया हूँ, उन सबकी निन्दा करता हूँ एवं प्रतिक्रमण करता हूँ तथा भविष्य में आने वाले ( दोषों का प्रत्याख्यान करता हूँ ) ।

( एकत्व भावना )

- (१३) मैं अकेला हूँ, मेरा कोई भी नहीं है, मैं भी किसी का नहीं हूँ । इस प्रकार निरपेक्ष भाव से ( साधक ) आत्मा को अनुशासित करे ।
- (१४) जीव अकेला उत्पन्न होता है और अकेला ही तट हो जाता है । अकेले की ही मृत्यु होती है ( तथा ) अकेला ही कर्मरूपी मृत से रहित होकर मुक्त ( भी ) होता है ।

एकको करेह कम्म, फलमवि तस्सेवकओ समणुहवइ ।  
 एकको जायइ मरइ य, परलोयं एककओ जाइ ॥१५॥  
 एकको मे सासबो अप्या नाणन्दसणलक्षणो ।  
 सेसा मे बाहिरा भावा सब्वे संजोगलक्षणा ॥१६॥

( संजोगसंबंधबोसिरणा )

संजोगमूला जीवेण पत्ता दुखपरंपरा ।  
 तम्हा संजोगसंबंधं सब्वं तिविहेण वोसिरे ॥१७॥

( असंजमार्द्दणं निदणा मिच्छत्तचागो य )

असंजममणाणं मिच्छत्तं सब्वओ विय ममत्त ।  
 जीवेसु अजीवेसु य तं निदे तं च गरिहामि ॥ १८ ॥  
 मिच्छत्तं परिजाणामि सब्वं असंजमं थलीयं च ।  
 सब्वत्तो य ममत्तं चयामि \*सब्वं च खामेमि ॥ १९ ॥

( अणायावराहालोपणा )

जे मे जाणति जिणा अवराहा जेसु जेसु ठाणेसु ।  
 ते हं आलोएमी उवट्टिशो सब्वभावेण ॥ २० ॥

( मायानिहणणोवएसो )

उप्पन्नाञ्जुष्णना माया अणुभगओ निहंतच्चा ।  
 आलोयण-निदण-गरिहणाहि न पुण स्ति या बीयं ॥ २१ ॥

१. \*णसंजुओ । पृ० सा० ।

२. सब्व खमावेमि पृ० सा० ।

३. तं सह आ० सा० ।

- (१५) ( जीव ) अकेला कर्म करता है, उसके फल को भी अकेला ही भोगता है। अकेला जन्म लेता है, मरता है तथा अकेला ही परलोक को जाता है।
- (१६) ज्ञान-दर्शन से युक्त यह अकेली शाश्वत 'आत्मा ही मेरी ( स्व ) है ( तथा ) संयोग लक्षण से युक्त शेष समस्त पदार्थ मेरे लिए बाह्य ( पर ) है।

**( संधीग सम्बन्ध परिस्थिति )**

- (१७) संयोग संबंध के कारण ही जीव दुःख परम्परा को प्राप्त होते हैं इसलिए ( साधक ) समस्त सांयोगिक संबंधों को तीनों प्रकार से त्यागे।

**( असंयम आवि की निन्दा और मिथ्यात्म का त्याग )**

- (१८) असंयम, अज्ञान, मिथ्यात्म तथा सभी जीव-अजीवों में निहित ममत्व—उन ( सब ) की ( मैं ) निन्दा और गर्ही करता हूँ।
- (१९) सब प्रकार के असंयम, अप्राभासिकता और मिथ्यात्म को मैं जानता हूँ। इसलिए सब प्रकार से ममत्व का त्याग करता हूँ और सबसे ( मैं ) क्षमायाचना करता हूँ।

**( अज्ञात अपराध आलोचना )**

- (२०) जिन-जिन स्थितियों में मेरे द्वारा जो-जो अपराध हुए हैं, ( उन सबको ) तीर्थीकर जानते हैं। इसलिए मैं उन ( अपराधों ) की सर्वथा प्रकार से आलोचना करने के लिए उपस्थित हुआ हूँ।

**( माया निहनन उपवेश )**

- (२१) उत्पन्न या अनुत्पन्न माया परिख्याग करने योग्य है। निन्दा और गर्ही से ( वह ) पुनः उत्पन्न नहीं होती।

१. संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में आत्मा पुलिङ्ग शब्द है किन्तु हिन्दी भाषा में आत्मा शब्द स्त्रीलिङ्ग रूप में प्रयुक्त होता है। यहाँ भी स्त्रीलिङ्ग रूप में ही लिया गया है।

## ( आलोयगस्स सल्लवं मोकखगामितं च )

जह बालो जर्पतो कज्जमकउजं च उज्जुर्य भणइ ।  
तं तह आलोइज्जा माया-मयविष्पमुक्तो<sup>१</sup> उ ॥ २२ ॥

सोही उज्जुर्यभूयस्स धम्भो सुद्दस्स चिट्ठई ।  
निव्वाणं परमं जाइ <sup>२</sup>घयसिते व पावए ॥ २३ ॥

## ( सल्लुद्दरणपर्वणा )

न हु सिज्जाई ससल्लो जह भाणेयं सासणे धुयरथाणं ।  
उद्दरियसब्बसल्लो सिज्जाई जोबो धुयकिलेसो ॥ २४ ॥

सुबहुं पि <sup>३</sup>भावसल्लं जे आलोयंति गुरुसगासम्मि ।  
निस्सल्ला संथारगमुवेंति आराहगा ह्रौंति ॥ २५ ॥

अप्पं पि भावसल्लं जे णाझ्जलोयंति गुरुसगासम्मि ।  
धंतं पि सुयसमिद्धा न हु ते आराहगा ह्रौंति ॥ २६ ॥

न वि तं सत्यं व विसं वदुप्पउस्तो व कुणइ वेथालो ।  
जांतं व दुप्पउत्तं सप्पो व पमाथओ कुद्धो ॥ २७ ॥

जं कुणइ भावसल्लं अणुद्धियं उत्तिमटुकालम्मि ।  
दुल्लंभबोहियतं अणंतसंसारियतं च ॥ २८ ॥

तो उदररति गारवरहिया मूर्ल पुणब्बदलयाणं ।  
मिळ्डार्दसणसल्लं मायासल्लं नियाणं च ॥ २९ ॥

## ( आलोयणाफलं )

कयपाचो वि मण्सो आलोइय निदिउ गुरुसगासे ।  
होइ अइरेगलहुओ ओहुरियभर्ह व्व भारजहो ॥ ३० ॥

१. °मुष्केण । सं० ।

२. °यसिति व्व पा° पु० । °यसित् व्व पा° सा० ।

३. °सल्ल आलोएउण गुर्ह° पु० सा० ।

४. °मरो व्व सं० ।

( आलोचक का स्वरूप और मोक्षमामित्व )

- (२२) जिस प्रकार बालक ( अपने ) कार्य-अकार्य को सहजभाव से व्यक्त कर देता है उसी प्रकार साधक को ( अपने समस्त दोषों की ) आलोचना क्षण एवं अहंकार का त्याग करके करनी चाहिए ।
- (२३) सरलचित्त वाले की ही शुद्धि होती है और जिसका चित्त शुद्ध है उसमें ही धर्म स्थित रहता है तथा ( जिसमें धर्म स्थित रहता है, वह ही ) परम निर्वाण को प्राप्त करता है, जैसे धी से सिक्ख अग्नि ।

( शाल्योद्धरण प्रलयण )

- (२४) जिनशासन में इस प्रकार कहा गया है कि कर्मरज से रहित व्यक्ति भी यदि माया आदि तीन शाल्यों से युक्त है तो वह मुक्ति को प्राप्त नहीं करता है । किन्तु जिस जीव ने समस्त शाल्यों का मोचन कर दिया है, वह क्लेश रहित जीव मुक्ति को प्राप्त करता है ।
- (२५) अत्यधिक भाव शाल्य से युक्त जो ( शिष्य ) गुरु के समीप (अपनी) आलोचना कर लेते हैं, ( वे ) समाधिमरण को प्राप्त करते हैं और आराधक होते हैं ।
- (२६) अल्पतम भाव-शाल्य से युक्त जो ( शिष्य ) गुरु के समीप (अपनी) आलोचना नहीं करते हैं, वे अनुज्ञान से समृद्ध होते हुए भी आराधक नहीं होते हैं ।
- (२७-२८) दुष्प्रयुक्ति शस्त्र, विष, प्रेत, असम्यक् प्रकार से संचालित यन्त्र एवं कुद्धि सर्प भी प्रमादी का उत्तना अनिष्ट नहीं करते जितना अनिष्ट समाधिकाल में मन में रहे हुए माया, मिथ्यात्म एवं निदान स्वयं भाव-शाल्य करते हैं ( इससे ) बोधि की प्राप्ति हुल्लभ हो जाती है और ( व्यक्ति ) अनंतसंसारी हो जाता है ।
- (२९) इसीलिए गर्व-रहित ( साधक ) पुनर्जन्म रूपी लता के मूल मिथ्यादर्शन शाल्य, माया शाल्य एवं निदान ( शाल्य ) को ( अन्तर्ग से ) निकाल देते हैं ।

( आलोचना फल )

- (३०) गुरु के सानिध्य में ( अपने ) कृत पाप की आलोचना और निन्दा करके मनुष्य शीघ्र ही उसी प्रकार निर्भार हो जाता है, जिस प्रकार बोधि को उतार देने पर बोझा ढोने वाला ।

## ( पायच्छित्ताणुसरणपरुषणा )

तस्य य पायच्छित्तं जं मग्नविक्तुं गुरुं उवशसंति ।  
तं तह अग्नुहरित्वं अग्नेत्यासंभवीत्यर्थं ॥ ३१ ॥

दसदोसविष्फमुक्तं तस्म्हा सब्वं अगूहमाणेण ।  
जं किंपि<sup>१</sup> कथमकज्जं तं अहवत्तं कहेयब्वं ॥ ३२ ॥

## ( पाणवहाइपञ्चवक्षणं असणाइवोसिरणाय )

सब्वं पाणारंभं पञ्चवक्षामीय अलियवयणं च ।  
<sup>२</sup>सब्वमदिन्तादाणं <sup>३</sup>अब्बंभं परिगहं चेव ॥ ३३ ॥

सब्वं पि असण पाणं चउव्विहं जो य बाहिरो उवही ।  
अव्विभतरं च उवहि सब्वं तिविहेण बोसिरे ॥ ३४ ॥

## ( पालणासुद्ध-भावसुद्धपञ्चवक्षणसरूपं )

केतारे द्रुब्बिमक्षे वायके वा महया समुपन्ने ।  
जं पालियं, न भग्यं तं जाणसु पालणासुद्धं ॥ ३५ ॥

रागेण व दोसेण व परिणामेण व न दूसियं जं तु ।  
तं खलु पञ्चवक्षणं भावविसुद्धं मुणेशब्वं ॥ ३६ ॥

## ( निष्क्रेओवएसो )

पीयं थणयच्छीरं सागरसलिलाऽ बहुतरं होङ्जा ।  
संसारमिम् अण्टि माईणं अन्नभन्नाणं ॥ ३७ ॥

बहुसो वि <sup>४</sup>एव रुणं पुणो पुणो तासु तासु जाईसु ।  
नदणीदयं पि जाणसु बहुथयरं सागरजलाओ ॥ ३८ ॥

१. किंचि क० म० । २. सब्वं चञ्चवक्षणं सं । ३. सञ्चर्वमप० पु० ॥

४. वि म० ह० सा० ।

## ( प्रायशिक्षत अनुसरण प्ररूपणा )

- (३१) ( शिष्य के अपराध को जानकर ) सन्मार्ग-विज्ञ गुरु ( उसे ) जिस प्रायशिक्षत का निर्देश करते हैं, अनवस्था-भीरु उस ( शिष्य ) को उसी प्रकार उसका अनुसरण करना चाहिए ।
- (३२) दस दोषों से विमुक्त ( वह शिष्य ) समस्त ( दोषों को ) बिना छिपाए हुए ही जो कुछ भी कार्य-अकार्य किया है, उसको उसी प्रकार ( गुरु के समझ ) कह दे ।

## ( प्राण-हिंसा आदि का प्रत्याल्यान और असण आदि का परिग्रह )

- (३३) सभी प्रकार की प्राण-हिंसा, असत्य वचन, अदत्त ग्रहण ( स्तेन-कर्म ), अब्रहृचर्य एवं परिग्रह को ( में ) स्थागता है ।
- (३४) असण, पान आदि चार प्रकार के आहार, समस्त बाह्य उपधि ( परिग्रह ) एवं जो अभ्यन्तर उपधि ( कषाय-भाव ) हैं, ( साधक उन ) सभी को तीनों प्रकार से त्यागे ।

## ( निर्दोष पालन, भाव शुद्ध और प्रत्याल्यान स्वरूप )

- (३५) भयानक अटबी, दुर्भिक्ष अथवा अल्यधिक आतंकपूर्ण स्थिति के उत्पन्न होने पर भी जो आचार-नियम खण्डित नहीं किये जाते, उनका पालन ही निर्दोष जानों ।
- (३६) राग, द्वेष तथा भाव से जो ( प्रत्याल्यान ) दूषित नहीं होता, उसी प्रत्याल्यान को भग्नविशुद्ध जानना चाहिए ।

## ( वैराग्य उपदेश )

- (३७) ( यह जीव ) अनन्त संसार में ( परिभ्रमण करते हुए ) अलग-अलग माताओं के स्तनों का इतना अधिक दूध पी चुका है कि ( उसकी मात्रा ) समुद्र के जल से भी बहुत अधिक है ।
- (३८) ( यह जीव संसार में परिभ्रमण करते हुए ) बार-बार उन-उन योनियों में इतना अधिक रोया है कि ( उसके ) नयनोदक ( अशुर्लपी जल ) ( की मात्रा ) समुद्र के जल से भी बहुत अधिक जानों ।

नत्वा किर सो पएसो लोए बालग्गकोडिमित्तो वि ।  
संसारे संसारतो जरथ न जाओ मओ वा वि ॥ ३९ ॥  
चुलसीई किल लोए<sup>१</sup> जोणीण पमुहसयसहस्राई ।  
एककेककमिम य एतो अणंतखुतो समुण्डनो ॥ ४० ॥

## ( पंडियमरणपङ्कजाण )

उड्ढमहे तिरियमिम य <sup>२</sup>मयाह बहुयाई बालमरणाद ।  
तो ताइ<sup>३</sup> संभरतो पंडियमरण मरीहामि ॥ ४१ ॥  
माया मि ति पिया मे भाया भगिणी य पुत धीया<sup>४</sup> य ।  
एयाह<sup>५</sup> संभरतो पंडियमरण मरीहामि ॥ ४२ ॥  
माया-पिह-बधूहि संसारत्येहि पूरिओ लोगो ।  
बहुजोणिवासिएण<sup>६</sup> न य ते तार्ण च सरण च ॥ ४३ ॥  
एको करेइ कम्म एकको अणुहवइ दुक्कथविवाग ।  
एको संसरइ जिओ जर-मरण-चउम्महाईगुविल ॥ ४४ ॥  
“उब्बेयणयं जम्मण-मरणं नरएसु वेयणाओ वा ।  
एयाह<sup>७</sup> संभरतो पंडियमरण मरीहामि ॥ ४५ ॥  
“उब्बेयणयं जम्मण-मरणं तिरिएसु वेयणाओ वा ।  
एयाह<sup>८</sup> संभरतो पंडियमरण मरीहामि ॥ ४६ ॥  
“उब्बेयणयं जम्मण-मरणं मणुएसु वेयणाओ वा ।  
एयाह<sup>९</sup> संभरतो पंडियमरण मरीहामि ॥ ४७ ॥  
“उब्बेयणयं जम्मण-मरणं चवण च देवलोगाओ ।  
एयाह<sup>१०</sup> संभरतो पंडियमरण मरीहामि ॥ ४८ ॥  
एकक पंडियमरण छिदइ जाईसयाई<sup>११</sup> बहुयाई<sup>१२</sup> ।  
तं मरणं मरिथछवं जेण मओ सुम्मओ होइ ॥ ४९ ॥  
कहया पुत सुमरणं पंडियमरण जिषेहि पनततं ।  
सुद्धो उद्धियसल्लो पाओवगाओ मरीहामि ? ॥ ५० ॥

१. °ए जोणीपमुहाई उय° सा० । २. मियाह पु० । ३. शूया पु० सा० ।  
४. °एहि न पु० सा० । ५. °ब्बेयण० सं० ।

- (३९) लोक में बालायकोटि ( संस्था विशेष ) मात्र भी वह स्थान ( अवशिष्ट ) नहीं रहा है, जहाँ संसार में परिभ्रमण करते हुए ( इस जीव ने ) जन्म-मरण न किया हो ।
- (४०) लोक में योनियों के चौरासी लाख मुल्य भेद कहे गए हैं और ( वह जीव ) इन प्रत्येक योनियों में अनन्तबार उत्पन्न हुआ है ।

### ( पंडितमरण प्रस्तुपणा )

- (४१) ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् लोक में मेरे द्वारा अनेक बार बालमरण ( अज्ञान-मरण ) मरा गया है । इसलिए ( अब मैं ) उन बाल-मरणों को स्मरण करता हुआ पंडितमरण ( समाधिमरण ) मरूँगा ।
- (४२-४३) माता-पिता, भाई-बहिन और पुत्र-पुत्री रूप इन ( सांसारिक संवादों की कहानाहाना ) को समरण करता हुआ मैं पंडितमरण मरूँगा । क्योंकि माता, पिता, बन्धु और संसार में विविध योनियों में रहे हुए समस्त प्राणी न तो ( किसी के ) रक्षणकर्ता है और न प्राणदाता ही है ।
- (४४) जीव अकेला कर्म करता है, अकेला अपने दुष्कर्मों के विपाक को भोगता है और अकेला ही जरा-मरण को प्राप्त कर कुटिल चतुर्गति में परिभ्रमण करता है ।
- (४५) जन्म, मरण, उद्धिग्नता तथा नारकीय जीवन में जो वेदनाएँ हैं— इनको स्मरण करता हुआ ( अब मैं ) पंडितमरण मरूँगा ।
- (४६) जन्म, मरण, उद्धिग्नता तथा स्त्रीच जीवन में जो वेदनाएँ हैं— इनको स्मरण करता हुआ ( अब मैं ) पंडितमरण मरूँगा ।
- (४७) जन्म, मरण, उद्धिग्नता तथा मानव जीवन में जो वेदनाएँ हैं— इनको स्मरण करता हुआ ( अब मैं ) पंडितमरण मरूँगा ।
- (४८) जन्म, मरण, उद्धिग्नता तथा देवलोक से च्युति—इनको स्मरण करता हुआ ( अब मैं ) पंडितमरण मरूँगा ।
- (४९) एक पण्डितमरण सैकड़ों भव-परम्परा का अन्त कर देता है इसलिए वह मरण ( अर्थात् पंडितमरण ) ही मरना चाहिए, जिससे मरण सुमरण हो जाता है ।
- (५०) जिनेन्द्रों के द्वारा उसी सुमरण को पंडितमरण कहा गया है । माया, निदान और मिथ्या शल्य को ( शरीर से ) बाहर किया हुआ ( मैं क्या ) शुद्ध प्रायोपगमन मरण मरूँगा ?

## ( निष्ठेऽनोदेहसो )

भवसंसारे सब्बे चउच्चिहा पोगला मए बढ़ा ।  
परिणामपसंगेण अटुविहे कम्मसंवाए ॥ ५१ ॥

संसारचक्कवाले सब्बे ते पोगला मए बहुसो ।  
बहुरिया व निष्ठामित्य च त च हुमो दिति ॥ ५२ ॥

आहारनिमित्तागं<sup>१</sup> अहयं सब्बेसु नरयलोएसु ।  
उक्कणो मि<sup>२</sup> सुबहुसो सञ्चासु य मिच्छजाईसु ॥ ५३ ॥

<sup>३</sup>आहारनिमित्तागं <sup>४</sup>मच्छा गच्छति दाखणे नरए ।  
सच्चित्तो आहारो न खमो मणसा वि पत्थेउ ॥ ५४ ॥

तण-कट्ठेण व अग्गी लवणजलो वा नईसहस्रेहि ।  
न इमो जीवो 'सक्को तिष्ठेउ' अथसारेण ॥ ५५ ॥

तण-कट्ठेण व अग्गी लवणजलो वा <sup>५</sup>नईसहस्रेहि ।  
न इमो जीवो 'सक्को तिष्ठेउ' भोयणविहीए ॥ ५६ ॥

बलयामुहसामाणो दुप्पारो व णारओ <sup>६</sup>अपरिमेन्जो ।  
न इमो जीवो <sup>७</sup>'सक्को तिष्ठेउ' गंध-मल्लेहि ॥ ५७ ॥

<sup>८</sup>अवियण्होइयं जीवो अईयकालम्य आगमिस्साए ।  
सद्दाण य रुखाण य गंधाण रसाण फासाण ॥ ५८ ॥

१. निमित्तेण अ<sup>१</sup> सा० । २. मि य ब<sup>२</sup> पु० सा० । ३. <sup>०</sup>रनिमित्तोणं म<sup>३</sup> सा० ।  
४. यिच्छा पु० । ५-६. सक्का पु० । ७. <sup>०</sup>हस्रेसु स० । ८. सक्का पु० ।  
९. <sup>०</sup>परिमिज्जो<sup>१</sup>सा० । १०. सक्का तिष्ठेउ सा० । ११. अविष्ट्रोइयं सा० ।  
अविलत्तोइयं सा० ।

( निर्वेद लघवेत्र )

- (५१) भव संसार में परिभ्रमण करते हुए ( स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु रूप ) चारों प्रकार का समस्त पुद्गल द्रव्य मेरे द्वारा ( कर्म रूप में परिणत होकर ) बढ़ हुआ है तथा मन के परिणामों ( मनोभावों ) द्वारा ( मैंने ) आठ प्रकार के कर्म संचित किये हैं ।
- (५२) संसार के चक्रवाल में परिभ्रमण करते हुए वे समस्त पुद्गल द्रव्य मेरे द्वारा आहार रूप में परिणत हुए हैं, तो भी मुझे तृप्ति प्राप्त नहीं हुई है ।
- (५३) आहार की लोलुपता के कारण ( मैं ) अधोलोक में, सभी नरकों में तथा ( मनुष्य लोक में ) अनेक बार म्लेच्छ जातियों में उत्पन्न हुआ हूँ ।
- (५४) आहार की लोलुपता के कारण मछलियाँ दुःख-पूर्ण नरक लोक में जाती हैं । इसीलिए ( मुनि के लिए ) सचित्त आहार की मन से भी इच्छा करना शक्य नहीं है ।
- (५५) ( जिस प्रकार ) तुण और काष्ठ की आहुति से अग्नि को तथा हजारों नदियों के जल से लबण समुद्र को ( तृप्त नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार ) काम-भोगों से इस जीव को तृप्त करना शक्य नहीं है ।
- (५६) ( जिस प्रकार ) तुण और काष्ठ की आहुति से अग्नि को तथा हजारों नदियों के जल से लबण समुद्र को ( तृप्त नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार ) धन से इस जीव को तृप्त करना शक्य नहीं है ।
- (५७) ( जिसप्रकार ) तुण और काष्ठ की आहुति से अग्नि को तथा हजारों नदियों के जल से लबण समुद्र को ( तृप्त नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार ) विविध प्रकार के भोजन से इस जीव को तृप्त करना शक्य नहीं है ।
- (५८) ( जिसप्रकार ) बड़वानल के समान विशाल नरक को पार करना कठिन है ( उसीप्रकार ) गन्ध-माल्य से इस जीव को तृप्त करना शक्य नहीं है ।
- (५९) यह जीव शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श से न तो अतीतकाल में ( कभी ) तृप्त हुआ है और न ही भविष्यकाल में कभी तृप्त होगा ।

कप्पतरसंभवेसु<sup>१</sup> देवुत्तरकुरवसंपसुएसु ।  
 उवाए ण य तितो, न य नर-विज्ञाहर-सुरेसु ॥ ६० ॥

खड्डेण व पीण व न य एसो ताइओ हृद्व अप्पा ।  
 जइ दुगाइ<sup>२</sup> न वच्चद्व तो<sup>३</sup> नूर्ण ताइओ होई ॥ ६१ ॥

देविद-चक्रवट्टितणाइ<sup>४</sup> रज्ञाइ<sup>५</sup> उत्तमा शोणा ।  
 पत्ता अण्ठतखुतो न य हृ तिति गओ तेहि ॥ ६२ ॥

स्त्रीरदगुच्छुरसेसु<sup>६</sup> साऊसु महोदहीसु बहुसो वि ।  
 उववण्णो ण य तण्हा छिना मे सीयलजलेण ॥ ६३ ॥

तिविहेण य सुहमउल तम्हा कामरडविसयसोक्खाण ।  
 बहुसो सुहमणुभूयं न य सुहतण्हा परिच्छिणा ॥ ६४ ॥

जा काइ पत्थणाओ कथा मए राग-दोसवसाएण ।  
 पडिबंधेण बहुविहं तं निदे तं च गरिहामि ॥ ६५ ॥

हंतूण मोहजाल छेतूण य अटुकम्मसंकलियं ।  
 जम्मण-मरणरहद्व भेतूण भवाओ मुच्चिहिसि ॥ ६६ ॥

पंच य महब्बयाइ<sup>७</sup> तिविहं तिविहेण आरुहेऊण ।  
 मण-वयण-कायगुतो सज्जो मरणं पडिच्छज्जा ॥ ६७ ॥

### ( पंचमहब्बयरक्खापरुद्धणा )

कोहं माण मायं लोहं पिज्ज तहेय दोसं च ।  
 चइरुण अध्यमतो रक्खामि महब्बए पंच ॥ ६८ ॥

कलहं अब्बक्खाणं पेसुण्णं पि य परस्स परिवायं ।  
 परिवज्जंतो गुतो रक्खामि महाब्बए पंच ॥ ६९ ॥

पंचेदियसंवरणं पंचेव निर्भिरुण कामगुणे ।  
 अच्चासातणभीओ रक्खामि महब्बए पंच ॥ ७० ॥

१. °भवेसु देवुत्तरकुरवसंपसु<sup>१</sup> प० सा० । २. तो मरणे ता० प० सा० ।

३. °षगेच्छु० सा० । ४. °वा विमु० सा० । ५. °सायण० सं० विना ।

- (६०) देवकुरु और उत्तरकुरु—जहाँ सदैव कल्पवृक्ष होते हैं, ( वहाँ ) उत्पन्न होकर तथा मनुष्य, विद्याधर और देव रूप में उत्पन्न होकर भी ( यह जोब ) तृप्त नहीं हुआ है।
- (६१) स्थाने-पीने से यह आत्मा त्राण प्राप्त नहीं कर पाती है। यदि ( आत्मा ) दुर्गति को नहीं चाहती है तो निश्चय ही त्राण प्राप्त करती है।
- (६२) ( मैंने ) देवेन्द्रों, चक्रवर्तियों ( सम्राटों ) और राज्यों के उत्तम भोगों को अनन्तबार प्राप्त किया है, तो भी उनसे मुझे तृप्ति नहीं हुई है।
- (६३) ( मैं ) क्षीरोदक समृद्ध, इक्षुरस समृद्ध तथा स्वादिष्ट महोदधि समृद्ध में अनेक बार उत्पन्न हुआ हूँ, तो भी उनके शीतल जल से भी मेरी तृष्णा शांत नहीं हुई है।
- (६४) ( इस जीव ने ) काम-रति सम्बन्धी विषय-मुख्यों के अतुल आनन्द का तीनों प्रकार से अनेकबार अनुभव किया है फिर भी ( इसके ) विषय-मुख्य की तृष्णा शांत नहीं हुई है।
- (६५) राग-द्वेष के वशीभूत होकर जो कोई ( व्यक्ति ) आसक्ति पूर्वक मुझसे विविध धाचना करता है तो मैं उसकी निदा और गही करता हूँ।
- (६६) मोह जाल को समाप्त करके, संकलित किये हुए आठ कर्मों को छेद करके और जन्म-मरण के चक्र ( रैहट ) को तोड़ करके तुम संसार ( भव-परम्परा ) से मुक्त हो सकोगे।
- (६७) ( साधक ) त्रिविधि-त्रिविधि रूप से पंच महावतों का पालन करके तथा मन, वचन और शरीर से संयत ( अर्थात् त्रिगुप्ति से युक्त ) होकर पंडितमरण की इच्छा करे।

### ( पंच महावत रक्षा प्रस्तुपण )

- (६८) क्रोध, मान, माया, लोभ और उसी प्रकार राग-द्वेष को त्याग करके अप्रमत्त हुआ ( मैं ) पाँच महावतों की रक्षा करता हूँ।
- (६९) कलह, लाज्जन, चुगली और परनिदा को त्यागते हुए ( मैं ) संयती पाँच महावतों की रक्षा करता हूँ।
- (७०) पाँच प्रकार के काम गुणों का निरोध करके और पंचेन्द्रियों का

१. देवकुरु और उत्तरकुरु उत्तम भोग भूमि है। वहाँ सदैव ही पहला और दूसरा आरा रहता है तथा सदैव सभी इच्छाएँ पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष वहाँ होते हैं।

किञ्छा नीला काढ लेसा ज्ञाणाइँ अटू-रोददाइँ ।  
‘परिवर्जितो गुत्तो रक्खामि महब्बए पंच ॥ ७१ ॥

तेऊ पम्हा सुकका लेसा ज्ञाणाइँ धम्म-सुककाइँ ।  
उवसंपन्नो जुत्तो रक्खामि महब्बए पंच ॥ ७२ ॥

मणसा मणसच्चविझ वायासच्चेण करणसच्चेण ।  
तिविहेण वि सच्चविझ रक्खामि महब्बए पंच ॥ ७३ ॥

सलभयविष्णमुक्को चत्तारि निरुभिऊण य कराए ।  
अटूमयद्वाणजद्दो रक्खामि महब्बए पंच ॥ ७४ ॥

‘गुत्तीओ समिई-भावणाओ नार्ण च दंसण चेव ।  
उवसंपन्नो जुत्तो रक्खामि महब्बए पंच ॥ ७५ ॥

एवं तिदंडविरओ तिकरणसुद्दो तिसल्लनिसल्लो ।  
तिविहेण अप्पमत्तो रक्खामि महब्बए पंच ॥ ७६ ॥

### ( गुत्ति-समिईपाहणपहवण )

संगं परिजाणामि सल्लं तिविहेण उद्धरेऊणं ।  
गुत्तीओ समिईओ मज्जां तार्ण च सरणं च ॥ ७७ ॥

### ( तवमाहण्य )

जह खुहियचक्कवाले पोयं रयणभरियं समुद्दम्मि ।  
निजामगा धरेती कयकरणा बुद्धिसंयणा ॥ ७८ ॥

तवपोयं गुणभरियं परीसहुम्मीहि खुहिउमारहूँ<sup>३</sup> ।  
तह आराहिति विझ उवएसङ्कलंबगा धीरा ॥ ७९ ॥

१. °वज्जत्तो सं० विना । २. समस्त गुत्तीओ समिईओ भावणाओ नार्ण च  
उवसे० हू० । ३. °माहदठ (द) सं० ।

संबरण करके मान-अपमान से भयभीत हुआ ( मैं ) पाँच महाब्रतों की रक्षा करता हूँ ।

- (७१) कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, काषाय लेश्या तथा आर्त और रौद्र व्यान को स्थागते हुए ( मैं ) संयती पाँच महाब्रतों की रक्षा करता हूँ ।
- (७२) तेजो लेश्या, पद्म लेश्या एवं शुक्ल लेश्या तथा धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यान को प्राप्त ( मैं ) संयती पाँच महाब्रतों की रक्षा करता हूँ ।
- (७३) मन से सत्य जानने वाला, वचन से सत्य बोलने वाला और शरीर से सत्य आचरण करने वाला—इस प्रकार त्रिविध रूप से सत्यविद् ( मैं ) पाँच महाब्रतों की रक्षा करता हूँ ।
- (७४) चारों कषायों का निरोध करके, सात प्रकार के भयों से मुक्त तथा आठों मद स्थानों का ल्यागी ( मैं ) पाँच महाब्रतों की रक्षा करता हूँ ।
- (७५) गुप्ति ( त्रिगुप्ति ), समिति ( पंच समिति ), भावना ( द्वादश भावना ) एवं ज्ञान तथा दर्शन से उपसम्पन्न ( मैं ) संयती पाँच महाब्रतों की रक्षा करता हूँ ।
- (७६) त्रिदंड से रहित, त्रिकरण से शुद्ध, त्रिशत्य से निःशाल्य—इस प्रकार त्रिविध रूप से अप्रमत्त ( मैं ) पाँच महाब्रतों की रक्षा करता हूँ ।

### ( गुप्ति समिति प्रधान प्ररूपणा )

- (७७) त्रिविध रूप से शाल्य का निराकरण करके ( मैं ) आसक्ति के परिणाम को जानता हूँ । गुप्तियाँ और समितियाँ ही मेरे लिए शरण और आग हैं ।

### ( तप माहात्म्य )

- (७८-७९) जिसप्रकार कार्य कुशल और बुद्धि सम्पन्न नियमिक ( जहाज चालक ) चक्रवाल से क्षोभित समुद्र में रत्न से भरे हुए जहाज को सुरक्षा करता है उसीप्रकार उपदेश का अवलम्बन लेने वाले धीर्घवाल त्रिहृतजन परीषह रूपी तरङ्गों से क्षोभित तुष्णा रूपी समुद्र में गुणों से युक्त तप रूपी पोत की सुरक्षा करते हैं ( अर्थात् आराधना करते हैं ) ।

## ( अप्पटुसाहणपरूपणा )

जइ ताव ते सुपुरिसा<sup>१</sup> आयारोवियभरा निरवयक्ता ।  
पव्यारकंदरगया साहिती अप्पणो अटुं ॥ ८० ॥

जइ ताव ते सुपुरिसा गिरिकंदर-कडग-विसम-दुग्गेसु ।  
विद्यधिणियवद्वक्त्ता साहिती अप्पणो अटुं ॥ ८१ ॥

कि पुण अणगारसहायगेण अण्णोण्णसंगहृवलेण ।  
परलोएण सक्का साहेड<sup>२</sup> अप्पणो अटुं ? ॥ ८२ ॥

जिणवयणमप्पमेयं महुं कण्णाहुइं सुषंतेण ।  
सक्का हु साहुमज्जो साहेड<sup>३</sup> अप्पणो अटुं ॥ ८३ ॥

धीरपुरिसपण्णतं सप्पुरिसनिसेकियं परमघोरं ।  
घन्ना सिलायलगया साहिती अप्पणो अटुं ॥ ८४ ॥

## ( आकारियजोग-कारियजोगाणं हाणि-शुणपरूपणा )

बाहिति ईदियाइं पुञ्चमकारियपद्माणचारीण ।  
अक्ष्यपरिकम्म कीवा मरणे <sup>४</sup>सुयसंपयायम्म ॥ ८५ ॥

पुञ्चमकारियजोगो समाहिकामो य<sup>५</sup> मरणकालम्म ।  
न भवइ परीसहस्रो विसयसुहस्रमुइओ अप्पा ॥ ८६ ॥

पुञ्चकारियजोगो सामाहिकामो य<sup>६</sup> मरणकालम्म ।  
स भवइ परीसहस्रो विसयसुहनिवारिओ<sup>७</sup> अप्पा ॥ ८७ ॥

पुञ्चकारियजोगो अनियाणो ईहिउण मइपुञ्च ।  
ताहे मलियकसाओ मज्जो मरणं पडिच्छेज्जा ॥ ८८ ॥

पावाणं पावाणं कम्माणं अप्पणो सकम्माणं ।  
सक्का पलाइउ<sup>८</sup> जे तवेण सम्मं पडत्तेण ॥ ८९ ॥

१. °सा ज्ञाय° सं० । २. सुहसंगतायम्मि सा० । ३. शुहसंगचायम्मि पु० ।  
४-५. उ सं० । ६. °वारओ सं० ।

( आत्मार्थ साधन प्ररूपणा )

- (८०-८३) यदि सुपुरुष अनाकांक्ष और आत्मज्ञ हैं, तो वे पर्वत की गुफा में जाकर अपनी आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध कर लेते हैं ( अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं ) और यदि वे सुपुरुष बुद्धिवान् एवं साधना सन्नद्ध हैं, तो पर्वत की गुफा, पर्वतीय भू-भाग और इसी प्रकार विषम एवं दुर्गम स्थानों पर ( स्थित होकर ) अपनी आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध कर लेते हैं। तो फिर साधुओं की सहायता से और एक-दूसरे की प्रेरणा से ( उनके लिए ) परलोक में अपने प्रयोजन की ( अर्थात् आत्मार्थ ) की सिद्धि क्यों नहीं संभव होती ? सधुओं के मध्य में रहने हुए यथुर जिनवचनों को कानों से श्रवण करके ( सुपुरुष अपनी ) आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए अवश्य ही समर्थ हैं।
- (८४) वैर्यवान् पुरुषों द्वारा प्रतिपादित और सत्पुरुषों द्वारा आराधित दुस्साध्य आत्म अर्थ को ( जो पुरुष ) शिलातल पर अवस्थित होकर सिद्ध कर लेते हैं, वे धन्य हैं।

( अकृतयोग और कृतयोग के गुण-बोध की प्ररूपणा )

- (८५) बहिर्मुखी इन्द्रियों वाला, छिन्न चारिश्च वाला, असंस्कारित तथा पूर्व में साधना नहीं किया हुआ ( अव्यक्त ) श्रुत सम्पन्न होकर भी मरणकाल में अधीर हो जाता है।
- (८६) पूर्व में जिसने योग-साधना नहीं की है और ( जो ) विषय-सुखों में आसक्त है, ऐसी आत्मा समाधि की इच्छुक होकर भी मृत्यु के अवसर पर परीषह सहन करने में समर्थ नहीं होती है।
- (८७) पूर्व में जिसने योग-साधना की है और ( जो ) विषयसुखों में आसक्त नहीं है, ऐसी आत्मा ही समाधि की इच्छुक होकर मृत्यु के अवसर पर परीषह सहन करने में समर्थ होती है।
- (८८) पूर्व में जिसने योग-साधना की है और जो विवेकयुक्त होकर भावी फल की आकांक्षा से रहित हो गया है ऐसा मर्दित कषाय वाला ( व्यक्ति ) मृत्यु का तत्परतापूर्वक आलिङ्गन कर लेता है ( अर्थात् वह मृत्यु को देखकर विचलित नहीं होता है )।
- (८९) जो तप के द्वारा समत्वभाव में प्रवृत्त होता है ( उसके लिए ) पापियों के पापकर्मों तथा अपने सखामों का अतिक्रमण कर पाना शक्य होता है।

## ( पंडियमरणपञ्चणा )

एकं पंडियमरणं पडिवजिजय मुपुरिसो असंभंतो ।  
 स्थिष्ठं सो मरणाणं काही अंतं अण्टाणं ॥ ९० ॥

कि तं पंडियमरणं ? काणि व आलंबणाणि भणियाणि ? ।  
 एयाइं नाऊणं कि आयरिया पसंसंति ? ॥ ९१ ॥

अणसण पाओबगमं आलंबण ज्ञाण भावणाथो य ।  
 एयाइं नाऊणं पंडियमरणं पसंसंति ॥ ९२ ॥

## ( अणाहारगसञ्चय )

इंदियसुहसाउलओ घोरपरीसहपराइयपरज्जो ।  
 अक्यपरिकम्म कीचो मुज्जाइ आराहणाकाले ॥ ९३ ॥

लज्जाइ गारबेण य बहुस्सुयमएण वि दुच्चरियं ।  
 जे न कहिति गुरुणं न हु ते आराहगा होंति ॥ ९४ ॥

## ( आराहणाभाहप्तं )

मुज्जाइ दुक्करकारी, जाणइ मर्गं ति पावए किंति ।  
 किणिगूहितो जिदइ, तम्हा आराहण सेया ॥ ९५ ॥

## ( विसुद्धमणपाहणं )

न वि कारणं तणमओ संथारो, न वि य फासुया भूमी ।  
 अप्पा खलु संथारो होइ विसुद्दो मणो जस्स ॥ ९६ ॥

## ( पमायदोसपञ्चणा )

जिणवयणअणुयामे होउ मई ज्ञाणजोगमल्लीणा ।  
 जह तम्म देसकाले अमूढसन्नो चयइ देहं ॥ ९७ ॥

( पंडितमरण प्रलेपणा )

- (९०) असंचान्त ( यथार्थ वस्तु स्वरूप के ज्ञाता ) सत्यसुख एकमात्र पंडितमरण का ही प्रतिपादन करते हैं क्योंकि वह शीघ्र ही अनन्त-मरणों का अन्त कर देता है (अर्थात् मुक्ति प्रदान कर देना है ) ।
- (९१) वह पंडितमरण क्या है और उसके आलम्बन कौनसे कहे गये हैं ? इनको जानकर आचार्य ( उसकी ) प्रशंसा क्यों करते हैं ?
- (९२) अनशन और प्रायोपगमन ( पंडितमरण है ) तथा ध्यान और भावनाएँ ( अनुप्रेक्षाएँ ) ही उसके आलम्बन हैं—इनको जानकर ही ( आचार्य ) पंडितमरण की प्रशंसा करते हैं ।

( अनधाराधक स्वरूप )

- (९३) इन्द्रियसुखों में लीन, भयंकर परीषहों से पराजित, पर ( पदार्थों ) में आसक्त, असंस्कारित एवं अधीर व्यक्ति आराधना काल में ( अर्थात् समाधिमरण के अवसर पर ) विचलित हो जाता है ।
- (९४) लज्जा, अभिमान एवं बहुश्रुतता के अहंकार के कारण जो ( शिष्य अपने ) दुश्चरित्र को गुह के समक्ष प्रकट नहीं करते हैं, वे आराधक नहीं होते हैं ।

( आराधना माहात्म्य )

- (९५) कठिन तप करनेवाला विशुद्ध होता है और जो साधना मार्ग को जानता है वह कीर्ति प्राप्त करता है । तथा जो अपने अपराधों की आलोचना कर लेता है, उसकी आराधना श्रेयस्कर होती है ।

( विशुद्ध मन प्राधात्म्य )

- (९६) न तो तृणमय संस्तारक ( तृणों की शर्वा ) ही समाधिमरण का हेतु है और न प्रासुक भूमि ही । जिसका मन विशुद्ध होता है वही आत्मा संस्तारक ( संसार समुद्र से सम्यक् रूप से तारने वाली ) होती है ।

( प्रमाददोष प्रलेपणा )

- (९७) मैं जिनवचन का अनुसरण करने वाला तथा विवेक, ध्यान और योग से युक्त होऊँ ताकि ( मृत्यु का अवसर उपस्थित होने पर ) उस देश और काल में अमूढ़ संज्ञा ( अप्रमत्तचेता ) होकर देह का त्याग कर सकूँ ।

जाहे होइ पमलो जिणवरवयणरहिओ अणाउत्तो ।  
ताहे इंदियचोरा करिति तव-संजमविलोम ॥ ९८ ॥

## ( संवरमाहार्ण )

जिणवयणमणुगयमई जं वेलं होइ संवरपविट्ठो ।  
अग्नी व वाउसहिओ समूलडाळं डहुइ कम्म ॥ ९९ ॥

जह डहुइ वाउसहिओ अग्नी स्वखे वि हरियवण संडे ।  
तह पुरिसकारसहिओ नाणी कम्म खर्य णई ॥ १०० ॥

## ( नाणपाहार्णपञ्चणा )

जं अन्नाणी कम्म खवेइ बहुथाहिं वासकोडीहिं ।  
तं नाणी तिहिं गुस्तो खवेइ ऊसासमित्तेण ॥ १०१ ॥

न हु मरणमिम उवगे सक्का बारसविहो सुयक्खंघो ।  
सब्बो अणुचितेऽ धर्तं पि समत्थचित्तेण ॥ १०२ ॥

एकमिम वि जम्म पए सवेगं कुणइ वीयरायमए ।  
तं तस्स होइ नाणं जेण विरागत्तणभुवेइ ॥ १०३ ॥

एकमिम वि जम्म पए सवेगं कुणइ वीयरायमए ।  
सो तेण मोहजालं छिदइ अज्ञाप्ययोगेण ॥ १०४ ॥

एकमिम वि जम्म पए सवेगं कुणइ वीयरायमए ।  
बच्चइ नरो अभिक्लं तं मरणं तेण मरियब्बे ॥ १०५ ॥

जेण विरागो जायइ तं तं सम्भायरेण काप्लं ।  
मुच्चइ हु ससवेगी, अण्तओ होअसवेगो ॥ १०६ ॥

- (९८) जिस समय व्यक्ति प्रसन्न, जिनवचन रहित और असावधान होता है उस समय इन्द्रियरूपी चोर तप और संयम का विलोपन करते हैं ( अर्थात् हरण कर लेते हैं ) ।

### ( संवर माहात्म्य )

- (९९) जिस प्रकार बायु सहित अग्नि ( लक्ष को ) जड़-मूल से अर्थात् पूर्णतया जला देती है उसी प्रकार जिनवचन का अनुसरण करने वाली बुद्धि जब संवर भावना में प्रविष्ट होती है तब कर्म को सम्पूर्ण रूप से नष्ट कर देती है ।
- (१००) जिस प्रकार बायु सहित अग्नि वृक्षों एवं हरे-भरे बन प्रदेश को भी जला देती है उसीप्रकार पुष्पार्थ युक्त ज्ञानी व्यक्ति कर्म को जानकर उनका क्षय कर देता है ।

### ( ज्ञान-प्राधान्य प्रलेपण )

- (१०१) अज्ञानी व्यक्ति जिन विपुल कर्मों को करोड़ों वर्षों में क्षय करता है, उन कर्मों को त्रिगुप्ति से युक्त ज्ञानी व्यक्ति एक स्वासन्मान में ही क्षय कर देता है ।
- (१०२) निश्चय ही मृत्यु के समोप होने पर बारह प्रकार के श्रुतस्त्रिय के ज्ञाता के द्वारा भी समर्थचित्त से उन सबका अनुचितन करना संभव नहीं है ।
- (१०३) जिस एक पद के द्वारा ( व्यक्ति ) बीतराग के मत ( अर्थात् धर्म मार्ग ) में संवेग ( वैराग्य-भाव ) को प्राप्त करता है, वैराग्य को प्राप्त करने वाला वह पद ही उस व्यक्ति का ज्ञान होता है ।
- (१०४) जिस एक पद के द्वारा ( व्यक्ति ) बीतराग के मत ( अर्थात् धर्म मार्ग ) में संवेग को प्राप्त करता है, वह पद आध्यात्मयोग के द्वारा उसके मोह जाल को छिन्न कर देता है ।
- (१०५) जिस एक पद के द्वारा ( व्यक्ति ) बीतराग के मत ( अर्थात् धर्म मार्ग ) में संवेग को प्राप्त करता है, उस पद का बार-बार उच्चारण करता हुआ ( वह ) मनुष्य मरकर भी नहीं मरता है ( अर्थात् अमर हो जाता है ) ।
- (१०६) जिनसे वैराग्य उत्पन्न होता है उन-उनको सर्वथा सम्मानपूर्वक आचारित करना चाहिए । क्योंकि ( जो ) संवेगी होता है ( वह )

## ( जिणधम्मसद्वद्दुर्जना )

धम्मं जिणपन्तत्तं सम्मिणं सद्वद्दुर्जना मि तिविहेण ।  
तत्त्वाद्याद्युर्जना १५ नेष्टाणगत्तणस्स ॥१०७॥६

## ( विविहवोसिरणपञ्चवणा )

समणो मि त्ति य पढमं, बीयं सञ्चत्य संजओ मि त्ति ।  
सब्वं च बोसिरामि जिषेहि जं जं च पडिकुट्ठं ॥१०८॥

उवही सरीरगं जेव आहारं च चडविहं ।  
मणसा वय काएणं बोसिरामि त्ति भावओ ॥१०९॥

मणसा अच्चितणिज्जं सब्वं भासाथऽभासणिज्जं च ।  
काएण अकरणिज्जं सब्वं तिविहेण बोसिरे ॥११०॥

## ( पञ्चकखाणेण समाहिलंभो )

अस्संजमबोगसणं उवहि विवेगकरणं उवसमो य ।  
पडिरुयजोगविरओ खंती मुत्ती विवेगो य ॥१११॥

एयं पञ्चकखाणं आउरजणमावर्हसु भावेण ।  
अणणयरं पडिवणो जंपंतो पाकइ समाहि ॥११२॥

## ( अरहंताइएगपयसरणगहणेण वि बोसिरणाए आराहगतं )

एयंसि निमित्तमी पञ्चकखाऊण जह करे कालं ।  
तो पञ्चकखाइयव्वं इमेण एककेण वि पएणं ॥११३॥

१. निष्काणमग्नस्स सा० ।

२. अंतमर्त सं० ।

मुक्ति को प्राप्त करता है और ( जो ) असंवेगी ( आसक्त ) होता है ( वह ) अनन्त संसार में परिश्रमण करता है ।

### ( जिनधर्म में श्रद्धा )

(१०७) वीतराग द्वारा प्ररूपित इस सम्यक् धर्म में ( मैं ) तीनों प्रकार से ( अर्थात् मन, वचन एवं काया से ) श्रद्धा करता हूँ । ( यह धर्म ) इस एवं स्थावर जीव समूह के लिए हितकारी है तथा निवाण प्राप्ति का मार्ग है ।

### ( विविध त्याग प्ररूपण )

(१०८) प्रथम तो मैं धर्म हूँ और दूसरे मैं सर्वथा संयत भी हूँ इसलिए जिनदेवों के द्वारा जो-जो भी निषिद्ध हैं उन सबका मैं त्याग करता हूँ ।

(१०९) ( मैं ) उपधि ( परिग्रह ), शरीर एवं चारों प्रकार के आहार का मन, वचन और काया से भावपूर्वक त्याग करता हूँ ।

(११०) मन से जो चिन्तन करने योग्य नहीं है, वचन से जो कहने योग्य नहीं है और शरीर से जो करने योग्य नहीं है—उन सभी निषिद्ध कर्मों का ( साधक ) तीनों प्रकार से ( अर्थात् मन, वचन एवं काया से ) त्याग करे ।

### ( प्रत्याख्यान से समाधि प्राप्ति )

(१११) आपत्तिकाल में साधक वसंयम का त्याग करे, उपधि ( अर्थात् परिग्रह ) का विवेक करे और उपशम भाव को धारण करे । असम्यक् मन, वचन एवं काया के व्यापार से विरत होए तथा क्षमा भाव और बैराग्य भाव का विवेक बनाए रखे ( अर्थात् उनका बोध करे ) ।

(११२) आपत्तिकाल में आतुरजन भाव पूर्वक इस और इस प्रकार के अन्य प्रत्याख्यानों को ग्रहण करता हुआ समाधि को प्राप्त करता है ।

### ( अरहंत आदि एक पद के शारण ग्रहण एवं प्रत्याख्यान करने से आराधकत्व )

(११३) ऐसे अवसर पर प्रत्याख्यान करके यदि ( मुनि ) कालधर्म को ( अर्थात् मत्यु को ) प्राप्त होता है तो वह इस प्रत्याख्यान के एक ही पद से ( समाधि को प्राप्त होता है ) ।

मम मंगलमरिहंता सिद्धा साहू सुयं च धम्मो थ ।  
तेसि सरणोवगओ सावज्जं वोसिरामि त्ति ॥११४॥

अरहंता मंगलं मज्जा, अरहंता मज्जा देवया ।  
अरहंते कित्तदत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥११५॥

सिद्धा य मंगलं मवज्ज, सिद्धा य मज्जा देवया ।  
सिद्धे य कित्तदत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥११६॥

आयरिया मंगलं मज्जा, आयरिया मज्जा देवया ।  
आयरिए कित्तदत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥११७॥

उज्जाया मंगलं मज्जा, उज्जाया मज्जा देवया ।  
उज्जाए कित्तदत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥११८॥

साहू य मंगलं मज्जा, साहू य मज्जा देवया ।  
साहू य कित्तदत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥११९॥

सिद्धे उवसंपणो अरहंते केवलि त्ति भावेण ।  
एतो एग्यरेण वि पएण आराह्मो होइ ॥१२०॥

## ( वेयणाहियासणोबएसो )

समुद्दण्डेयणो पुण समणो हियएण कि पि चितिज्जा ।  
आलंबणाइं काई काऊण मुणी कुहं सहइ ? ॥१२१॥

वेयणासु उइन्नासु कि मे सत्तं निवेयए ।  
किचाललंबणं किच्चा तं दुखमहियासए ॥१२२॥

अणुतरेसु नरएसु वेयणाओ अणुतरा ।  
यमाए बट्टमाणेण मए पत्ता अणंतसो ॥१२३॥

मए कये इमं कम्मं समासज्ज अबोहियं ।  
पोराणगं इमं कम्मं मए पत्तं अणंतसो ॥१२४॥

ताहि दुखविशागाहि 'चुवचिणाहि ताहि ताहि ।  
न य जीबो अजीबो उ क्यपुब्बो उ चितए ॥१२५॥

- (११४) अरहंत, सिद्ध, साधु, श्रुतज्ञान और वर्म मेरे लिए कल्याणकारी है।  
इनकी शरण में जाकर ( मैं ) पापकर्म को त्यागता हूँ।
- (११५) अरहंत मेरे लिए मंगल है और अरहंत मेरे लिए पूजनीय है। अरहंतों को स्मरण करता हुआ ( मैं ) पापकर्म को त्यागता हूँ।
- (११६) सिद्ध मेरे लिए मंगल है और सिद्ध मेरे लिए पूजनीय है। सिद्धों को स्मरण करता हुआ ( मैं ) पापकर्म को त्यागता हूँ।
- (११७) आचार्य मेरे लिए मंगल है और आचार्य मेरे लिए पूजनीय है। आचार्यों को स्मरण करता हुआ ( मैं ) पापकर्म को त्यागता हूँ।
- (११८) उपाध्याय मेरे लिए मंगल है और उपाध्याय मेरे लिए पूजनीय है। उपाध्यायों को स्मरण करता हुआ ( मैं ) पापकर्म को त्यागता हूँ।
- (११९) साधु मेरे लिए मंगल है और साधु वेरे लिए पूजनीय है। साधुओं को स्मरण करता हुआ ( मैं ) पापकर्म को त्यागता हूँ।
- (१२०) इस प्रकार भावपूर्वक सिद्ध, अरहंत और केवलि—इनमें से किसी एक भी पद की शरण प्रहणकर ( व्यक्ति ) इस ( लोक ) में आराधक होता है।

### ( वेदना सहन का उपदेश )

- (१२१) वेदना के उत्पन्न होने पर श्रमण हृदय के द्वारा क्या विचार करे ? मुनि आलम्बन करता है और आलम्बन करके ही दुःख को सहन करता है।
- (१२२) वेदना के उत्पन्न होने पर सत्त्व को ( प्राणी को ) क्या सम्बोधित करना चाहिए। आलम्बन के कारण ही वह दुःख तुझे प्राप्त हुआ है। अतः समभावपूर्वक उसे सहन कर।
- (१२३) अन्तिम नरक में विद्यमान ( जीवों की ) वेदनाएँ अत्यधिक ( कष्ट-कर होती हैं )। प्रमाद के वशीभूत होकर मैंने ( उस अवस्था की ) अनन्तबार प्राप्त किया है।
- (१२४) मेरे द्वारा अज्ञान से युक्त होने के कारण ये ( क्रूर ) कर्म किये गये हैं। पूर्वकाल में भी मेरे द्वारा अनेकबार ये कर्म किये गये।
- (१२५) उन-उन ( क्रूर ) कर्मों को करने के कारण ( मैं ) उन दुःखविषयों को प्राप्त हुआ हूँ। ( ये ) पूर्वकृत कर्म जीव के ही हैं, अजीव के नहीं। ऐसा विचार करना चाहिए।

## ( अब्भुज्जयमरणपञ्चवणा )

अब्भुज्जयं विहारं इत्थं जिणएसियं विडपसत्वं ।  
नाउं महापुरिसेवियं ए अब्भुज्जयं भाणं ॥१२६॥

जह पञ्चलमिम काले पञ्चलमतिरथयरदेसियमुयारं ।  
पञ्चां निचल्यपत्वं उदेमि अब्भुज्जयं मरणं ॥१२७॥

## ( आराहणपडागाहरणपञ्चवणा )

बत्तीसभंडियाहिं कडजोगी जोगसंगहबलेण ।  
उज्जमिठण य वारसविहेण तवणेहपाणेण ॥१२८॥

संसास्तंगमज्जो धिइबलववसायबद्धकच्छाओ ।  
हंतूण मोहमल्लं हराहि आराहणपडागं ॥१२९॥

पोराणगं च कम्मं खवेह अन्नं नवं च न चिणाह ।  
कम्मकलंकलवलिलै छिदह संथारमारुढो ॥१३०॥

आराहणोवउत्तो सम्मं काऊण सुविहिबो कालं ।  
उक्कोसं तिनि भवे गंतूण लभेजज नेव्वाणं ॥१३१॥

धीरपुरिसपन्नतं सपुरिसनिसेवियं परमवोरं ।  
ओइणो हु सि रंगं हरसु पडायं अविसघेण ॥१३२॥

धीर ! पडागाहरण करेह जह तम्म देसकालमिम ।  
सुत-ज्यमणुगुणंतो धिइनिच्चलबद्धकच्छाओ ॥१३३॥

चत्तारि कसाए तिनि गारवे पंच द्वियगामे ।  
हंता परोसहचमूं हराहि आराहणपडागं ॥१३४॥

१. °पञ्चं पु० सं० ।

२. तव-गियमवा० सं० ।

३. ए नाऽऽआइ सं० ।

४. °बल्ली पु० ।

### ( अभ्युद्घातमरण प्रलेपण )

- (१२६) ( जिनकल्पी मुनि का ) यह एकाकी विहार जिनोपदिष्ट है और विद्वत् जनों के द्वारा प्रशंसनीय है। सहापुरुषों के द्वारा आचरित और जिनकल्पियों द्वारा सेवित यह मरण ( अभ्युद्घातमरण ) जानने योग्य है।
- (१२७) ( साधक ऐसा कहे कि ) चरम तीर्थकर द्वारा उपदिष्ट जीवन के अन्तिम समय में करने योग्य कल्याणकारी समाधिमरण (अभ्युद्घातमरण ) को जीवन की सन्ध्यावेला में ( मैं ) नियमपूर्वक वर्गीकार करता हूँ।
- ( आराधनापताका प्राप्ति प्रलेपण )
- (१२८) बत्तीस प्रकार के योग संग्रह बल से मण्डित कृतयोगी बाहुप्रकार के तपों के अमृत का पान करके उसका समापन करे।
- (१२९) ( साधक ) बुद्धिवल्लभी लंगोट को कसकर संसाररूपों रंगभंच पर मोहरूपी मल्ल को पराजित कर आराधनारूपी पताका को फहराता है।
- (१३०) संस्तारक ( अर्थात् मूल्यु शैया ) पर आरूढ़ ( साधक ) पुराने कर्मों का क्षय करता है और अन्य नये कर्म संचित नहीं करता है तथा कर्म कलंकरूपी लता का छेदन करता है।
- (१३१) ( जो ) संयमी साधक आराधना ( समाधिमरण ) से युक्त होकर सम्यक् प्रकार से मूल्यु को प्राप्त करता है ( वह ) अधिक से अधिक तीन भव में जाकर ( अर्थात् तीन भव करके ) निवाण प्राप्त करता है।
- (१३२) धीरपुरुषों द्वारा प्रलेपित और सत्पुरुषों द्वारा सेवित अति कठिन आराधना के द्वारा ( साधक ) संसार समुद्र को अवतीर्ण कर निविद्धरूप से धर्मरूपी पताका को फहराता है।
- (१३३) स्थिरबुद्धि ( स्थितप्रज्ञ ) रूपी लंगोट से युक्त धीर साधक सूक्ष्म और अर्थ का अनुचितन करता हुआ उस देश और काल में ( धर्मरूपी ) पताका को फहराता है।
- (१३४) चार कषाय, तीन गरव और पाँच इन्द्रियग्राम ( पाँच इन्द्रियों के विषय ) तथा परीषहरूपी सेना का विनाश करके ( साधक ) आराधनारूपी पताका को फहराता है।

## ( संसारतरण-कर्मनित्यरणोष्टयसो )

‘मा य बहुं चितिज्जा ‘जीवामि चिरं मरामि व लहुं ति ।  
जह इच्छसि तरित जे संसारमहोयहिमपारं ॥१३५॥  
जह इच्छसि ३नित्यरित गवेऽग्नि चेत् गावकमणां ।  
जिणवयण-नाण-दंसण-चरित्तभावुज्जुओ ३जग ॥१३६॥

## ( आराहणाए भेदा सम्फलं च )

दंसण-नाण-चरित्ते तवे य आराहण चउक्खंधा ।  
४सा चेव होइ तिविहा उक्कोसा१ मज्जिम२ जहन्ना३ ॥१३७॥  
आराहेऊण विऊ उक्कोसाराहणॄ चउक्खंधे ।  
कर्मरथविष्पमुक्को तेणोव भवेण सिज्जेज्जा ॥१३८॥  
आराहेऊण विऊ जहन्नमाराहणॅ चउक्खंधे ।  
सत्तज्जुभवगगहणे परिणामेऊण सिज्जेज्जा ॥१३९॥

## ( सब्बजीवखामणा )

सम्मं मे सद्बभूएमु, वेरं मज्जन न केणइ ।  
खामेमि ४सब्बजीवे, खमामङ्हं सब्बजीवाण ॥१४०॥

## ( धीरमरणपसंसा )

धीरेण वि मरियब्बं काउरिसेण वि अवस्स मरियब्बं ।  
दोणहं पि य मरणाणं वरं खु धीरत्तणे मरित ॥१४१॥

## ( पञ्चक्षाणपालणाफलं )

एवं पञ्चक्षाणं अणुपालेऊण सुविहिभो सम्मं ।  
वेसाणिभो व देवो हविज अहवा वि सिज्जेज्जां ॥१४२॥  
॥ ५. महापञ्चक्षाणपद्मण्यं सम्मतं ॥

१. माझ्या । हु व चि० सा० । २. निष्फिडित॑ स० । ३. जगे पु० । ४. स  
च्चेब पु० । ५-६. ०हणा चउक्खंधा स० । ७. ०ब्बजीवाण ख० पु० ।  
८. ०क्षाण स० स० ।

### ( संसारतरन और कर्म निस्तारण उपदेश )

- (१३५) ( हे समाधिभरण के इच्छुक साधक ! ) यदि तू संसारल्पी महासागर से पार होने की इच्छा करता है तो यह विचार मत कर कि “मैं चिरकाल तक जीवित रहूँ अथवा शीघ्र ही मर जाऊँ ।”
- (१३६) ( हे साधक ! ) यदि तू समस्त पापकर्मों से छुटकारा पाने की इच्छा रखता है तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और जिनवचन के प्रति निष्कपट भाव से जागृत रह ।

### ( आराधना के भेद और उसके फल )

- (१३७) दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप ( की अपेक्षा से ) आराधना चार प्रकार की है । वह भी उल्कुष्ट, मध्यम और जघन्य—इस भेद से तीन प्रकार की होती है ।
- (१३८) चारों आराधना स्कन्धों की उल्कुष्ट साधना करके विज्ञ साधक कर्मरूप से विमुक्त हो, उसी भव में मुक्त हो जाता है ।
- (१३९) ( जो ) विज्ञ साधक चारों आराधना स्कन्धों की जघन्य साधना करता है, ( वह ) सात-आठ भव ग्रहण करके शुद्ध परिणमन कर मुक्त हो जाता है ।

### ( सर्व जीव क्षमापना )

- (१४०) समस्त प्राणियों के प्रति मेरा समभाव है, किसी से भी मेरा देर नहीं है । मैं समस्त जीवों को क्षमा करता हूँ, समस्त जीव मुक्तको क्षमा करूँ ।

### ( धीरमरण प्रशंसा )

- (१४१) धीर्घवान् के द्वारा भी मरा जाता है और कायर पुरुष के द्वारा भी अवश्य मरा जाता है । इन दोनों ही मरणों में से धीरतापूर्वक मरना ( अर्थात् समाधिभाव से मरना ) निश्चय ही उत्तम है ।

### ( प्रत्याल्यान पालन का फल )

- (१४२) इस प्रत्याल्यान का सम्यक् प्रकार से पालनकर संयमी साधक या तो वैमानिक देव होंगे या सिद्ध होंगे ।

## १ परिशिष्ट

### महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक में प्रयुक्त विशिष्ट शब्द

**आराधना—** अतिचार (दोष) न ल्याते हुए निर्दोष साधना का प्रतिसेवन/प्रतिपालन करता आराधना है। आराधना के तीन भेद हैं—(१) ज्ञान आराधना, (२) दर्शन आराधना और (३) चारित्र लालशना।

दिगम्बर साहित्य के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्र व सम्यग्ताप—इन चारों का यथायोग्य रीति से उद्योतन करता, उनमें परिणति करना, उनको दृढ़तापूर्वक धारण करना, उनके भन्द पढ़ जाने पर पुनः पुनः जागृत करना और उनका आजीवन पालन करता आराधना है।<sup>१</sup> इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में ज्ञान, दर्शन और चारित्र के साथ तप को भी आराधना की श्रेणी में सम्मिलित किया गया है।

**आलोचना—** प्रतिक्षण उद्दित होने वाले कषायों के कारण साधक की आस्था एवं चरित्र में झात एवं अज्ञात-दोनों प्रकार के दोष आते हैं, जीवन-शोधन के लिए उनको दूर करना अत्याकरण्यक है। इसके लिए आलोचना सबसे उत्तम मार्ग है। आचार्य, गुरु या बरिष्ठजनों के समक्ष निष्कपट भाव से अपने छोटे एवं बड़े सभी दोषों को प्रकट कर देना आलोचना है।<sup>२</sup>

**आहार—** आगमों में मनुष्यों के चार प्रकार के आहार का उल्लेख मिलता है—(१) अशन, (२) पान, (३) खाद्य और (४) स्वाद्य।

१. (क) स्वानांग ३/४/४३४, (ख) श्री जैन सिद्धान्त बोल संस्कृत, भाग १, पृष्ठ ६२-६३।

२. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १, पृ० २८४।

३. वही, भाग १, पृ० २९०।

४. स्वानांग, ४/४/५१३।

**इन्द्रियग्राम—** पांचों इन्द्रियों सम्बन्धी वासनाओं को इन्द्रियग्राम कहा जाता है।

**उपधि—** परिग्रहीत या संचित वस्तु उपधि है। सामान्यतया परिग्रह को उपधि कहा जाता है। उपधि तीन प्रकार की हैं—(१) कर्म उपधि, (२) शरीर उपधि और (३) वस्त्र-पात्र आदि बाह्य उपधि।

दिगम्बर परम्परानुसार उपधि दो प्रकार की कही गई हैं—(१) बाह्य उपधि, यथा—पोछी, कमण्डलु आदि और (२) आश्चर्यन्तर उपधि, यथा—कोष, मान, माया, लोभादि।

**कर्म—** मिथ्यात्व क्षणात् आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म है। कर्म के आठ भेद हैं—  
(१) ज्ञानावरणीय कर्म, (२) दर्शनावरणीय कर्म, (३) वेदनीय कर्म, (४) मोहनीय कर्म, (५) आशु कर्म, (६) नाम कर्म, (७) गोत्र कर्म और (८) अन्तराय कर्म।

**कषाय—** जो शुद्ध स्वरूप वाली जात्मा को कलुषित करते हैं अर्थात् कर्ममल से मलीन करते हैं, वे कषाय हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जिससे जीव पुनः पुनः जन्म-मरण के चक्र में पड़ता है, वह कषाय है।<sup>४</sup> कषाय मुख्य रूप से चार हैं—(१) कोष कषाय, (२) मान कषाय, (३) माया कषाय और (४) लोभ कषाय। पञ्चपरमेष्ठी के समक्ष ज्ञानसाक्षीपूर्वक जो रागादि भावों का त्याग है, वह गर्हा है। भूतकाल में किये गये पापों की निन्दा करना भी गर्हा है। वस्तुतः गर्हा प्रायश्चित्त

१. स्थानांग, ३/१/९४।
२. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १, पृ० ४५५।
३. (क) स्थानांग, २/४/४२४, (ख) प्रज्ञापना २३/१,  
(ग) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग ३, पृ० ४४-४५।
४. देखिए—अभिवान राजेन्द्र कोश, खण्ड ३, पृ० ३९५।
५. (क) स्थानांग, ४/१/७५, (ख) समकायांग ४/२०, (ग) प्रज्ञापना, २८/७,  
(घ) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग १, पृ० २६९, (इ) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, पृ० ३३, (च) व्याख्याप्रज्ञापत्रि, १/३।

की पुर्व भूमिका है। इही चार प्रकार की कही गई है—(१) उपसम्प्रदायरूप गही, (२) विचिकिस्तारूप गही, (३) मिच्छामिरूप गही और (४) एवमप्रशंसितरूप गही।

**गारब—**

गारब का अर्थ अहंकार है। गारब (अहंकार) तीन प्रकार के कहे गये हैं—(१) शृङ्खि-गौरव, (२) रस-गौरव और (३) साता-गौरव।

दिग्म्बर साहित्य में भी गारब तीन कहे गये हैं<sup>१</sup> किन्तु वहाँ रस गारब नहीं होकर शब्द गारब है। पुनः उनके क्रम में भी भिन्नता है—(१) शब्द गारब (२) शृङ्खि गारब और (३) सात गारब।

**गुप्ति—**

गुप्ति शब्द गोपन से बना है, जिसका अर्थ है—खोंच लेना, दूर कर लेना। गुप्ति शब्द का दूसरा अर्थ है करने वाला या रक्षा-करने भी है। प्रथम अर्थ के अनुसार मन, वचन और काया को अशुभ प्रवृत्तियों से हटा लेना गुप्ति है, और दूसरे अर्थ के अनुसार आत्मा की अशुभ से रक्षा करना गुप्ति है। गुप्तियाँ तीन हैं<sup>२</sup>—(१) मनो गुप्ति, (२) वचन-गुप्ति और (३) काय-गुप्ति।

**बौद्धी लाख योनि—**श्वेताम्बर परम्परानुसार सात लाख पृथ्वीकाय, सात लाख अप्काय, सात लाख तेजस्काय, सात लाख चायुकाय, दस लाख प्रत्येक-वनस्पतिकाय, चौदह लाख साधारण वनस्पति, दो लाख त्रीन्दिय, दो लाख त्रीन्दिय, दो लाख चतुरेन्द्रिय, चार लाख देवता, चार लाख नारकी, चार लाख तिर्यङ्गचंपानेन्द्रिय और चौदह लाख

१. स्थानांग, ४/२/२६४।

२. (क) स्थानांग ३/४/५०५, (ख) समवायांग ३/१५, (ग) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग १, पृ० ७०।

३. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, पृ० २३९।

४. (क) समवायांग ३/१५, (ख) उत्तराध्ययन २४/१-२, (ग) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग १, पृ० १६, (घ) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, पृ० २४८।

मनुष्य योनि । इस प्रकार कुल चौरासी लाख योनि हैं ।<sup>१</sup>

दिगम्बर परम्परानुसार नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक—इन छहों स्थानों में प्रत्येक में सात-सात लाख योनि, प्रत्येक बनस्पति में दस लाख योनि, द्विन्द्रिय, शीन्द्रिय और चतुरेन्द्रिय-प्रत्येक में दो-दो लाख योनि, देव, नारकी और तियंचपञ्चेन्द्रिय—प्रत्येक में चार-चार लाख योनि तथा मनुष्यों में चौदह लाख योनियाँ होती हैं । इस प्रकार कुल चौरासी लाख योनि हैं ।<sup>२</sup>

#### ध्यान—

चित्तवृत्तियों का किसी एक विषय पर काल विशेष तक केन्द्रित रहना ध्यान है । ध्यान चार प्रकार का है—  
(१) आर्त ध्यान, (२) रौद्र ध्यान, (३) धर्म ध्यान और  
(४) शुक्ल ध्यान ।

प्रशस्त और अप्रशस्त इस भेद से ध्यान दो प्रकार का है । धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान—ये दोनों ध्यान प्रशस्त ध्यान हैं तथा आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान—ये दोनों ध्यान अप्रशस्त ध्यान हैं ।

#### प्रत्याख्यान—

यावज्जीवन या सीमित समय के लिए भविष्य में किसी क्रिया को न करने की प्रतिज्ञा करना ही प्रत्याख्यान है । प्रत्याख्यान कई प्रकार का है । स्थानांगसूत्र में निम्न पाँच प्रकार के प्रत्याख्यानों का उल्लेख उपलब्ध होता है—  
(१) अद्वानशुद्ध-प्रत्याख्यान, (२) विनयशुद्ध-प्रत्याख्यान, (३) अनुभाषणाशुद्ध-प्रत्याख्यान, (४) अनुपालनाशुद्ध-प्रत्याख्यान, (५) भावशुद्ध-प्रत्याख्यान ।

#### भय—

सामान्यतया भावी अहित को आशंका को भय कहते हैं । सैद्धान्तिक दृष्टि से मोहनीय कर्म की प्रकृति विशेष के

१. आखक प्रतिक्रमणसूत्र, पृ० ६६ ।

२. गोमटसार (जीवकाण्ड), गाथा ८९ ।

३. (क) स्थानांग ४/१/६०, (ख) समवायांग ४/२०, (ग) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग १, पृ० १९३-१९४, (घ) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, पृ० ४९४ ।

४. स्थानांग ५/३/२२१ ।

उदय से पैदा हुए आत्मा के परिणाम विशेष को भय कहते हैं। भय सात प्रकार के हैं—(१) इहलोक भय, (२) परलोक भय, (३) आदान भय, (४) अकस्मात् भय, (५) वेदना भय, (६) मरण भय और (७) अबलोक भय।

सात भयों का उल्लेख समवायांगसूत्र में भी उपलब्ध होता है। किन्तु यहाँ पांचवा भय मरण भय न होकर आजीव भय कहा गया है शेष छह भयों के नाम एवं क्रम स्थानांगसूत्र के समान ही हैं।<sup>१</sup>

यद्यपि दिगम्बर साहित्य में भी सात भयों का उल्लेख मिलता है, किन्तु उनके नाम एवं क्रम श्वेताम्बर साहित्य से भिन्न हैं। दिगम्बर साहित्य में उल्लेखित सात भय इस प्रकार हैं—(१) इहलोक (२) परलोक (३) अरक्षा (४) अगुप्ति (५) मरण (६) वेदना और (७) आकस्मिक भय।

### मद—

जाति आदि का अहंकार करना अथवा हृष्ट और आवेश में उन्मत्त होना मद है।

मद आठ प्रकार के कहे गए हैं—(१) जातिमद (२) कुलमद (३) बलमद (४) रूपमद (५) तपोमद (६) श्रुतमद (७) लाभमद और (८) ऐश्वर्यमद।

दिगम्बर साहित्य में भी संख्या की दृष्टि से तो मद आठ ही कहे गए हैं, किन्तु उनके नाम एवं क्रम भिन्न हैं। दिगम्बर साहित्य में उल्लेखित आठ मद इस प्रकार हैं—(१) विज्ञास (२) ऐश्वर्य (३) आज्ञा (४) कुल (५) बल (६) तप (७) रूप और (८) जाति मद।

१. (क) स्थानांग, ७/२७, (ख) श्री जैन सिद्धान्त बोल संस्कृत, भाग २, पृ० २६८।

२. समवायांग ७/३७।

३. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृ० २१७।

४. (क) स्थानांग ८/२१, (ख) समवायांग ८/४४।

५. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृ० २७०।

**मरण—** आयु का क्षय होना ही मरण है। मरण कई प्रकार का कहा गया है।<sup>१</sup>

**माया—** किसी भी बात को छिपाने की चेष्टा करना अथवा कपटबृति माया है। दूसरे शब्दों में आत्मा का कुटिल भाव माया है। माया पाँच प्रकार की हैं—(१) निकृति (२) उपचिं (३) सातिप्रयोग (४) प्रणिधि और (५) प्रतिकुञ्चन।

समवायांगसूत्र<sup>२</sup> में माया के सोलह नामों का तथा व्याख्याप्रश्नप्रस्तॄप्तिसूत्र<sup>३</sup> में माया के पन्द्रह नामों का उल्लेख उपलब्ध होता है।

**म्लेच्छ—** अनार्य जाति के मनुष्यों को म्लेच्छ मनुष्य भी कहा जाता है। वाचक श्यामाचार्य ने प्रश्नापता सूत्र नामक चतुर्थ उपांग ग्रन्थ में कई अनार्य जातियों का नामोलेख किया है।<sup>४</sup> यद्या—

शक, धवन, किरात, शक्तर, खर्बर, काय, भूषण, उड्ड, भण्डक (भण्डक), निन्नक (निष्णक), पक्कणिक, कुलाक्ष, गोंड, सिंहल, पारस्य (पारसक), आनंद (कीच), उडम्ब (अम्बडक), तमिल (दमिल-द्विह), चिल्लल (चिल्लस या चिल्लक), पुलिन्द, हारोस, डोंब (डोम), पोक्काण (वोक्काण), घन्धाहरक (कन्धारक), बहलीक (बालहीक), अज्जल (अज्जल), रोम, पास (मास), प्रदुष (प्रदुष), मलय (मल्ल्याली), धंधूक (बन्धुक), मूली (चूलिक), कोंकणक, मेद (मेव), पल्हव, मालव, गगर (गगर), आभाषिक, णक्क (कणवीर), चीना, ल्हासिक (लासा के), खस, खासिक (खासी जातीय), नेहूर (नेहूर), मंढ (मोंड), डोम्बिलक, लओस, बकुश, कैकेय,

१. (क) स्वानांग ३/४/५१९, (ख) जैनेन्ड्र सिंहान्त कोश, भाग ३, पृष्ठ २९०-२९१।

२. वही, भाग ३ पृष्ठ ३०७।

३. समवायांग ५२/२८४।

४. व्याख्याप्रश्नप्रस्तॄप्ति १२/१।

५. प्रश्नापता १/९८।

अरबाक (अस्त्राग), हूण, रोसक (रुसवासी या रोमक),  
भरुक, रूत, (भ्रमररूत) और विलास (चिलात)  
देशवासी आदि।

**लेश्या—**

जिसके द्वारा जीव पुण्य-नाप से अपने को लिप्त करता  
है, उसको लेश्या कहते हैं। लेश्या छह प्रकार की है—  
(१) कुण्ड लेश्या (२) नील लेश्या (३) कापोत लेश्या  
(४) तेजो लेश्या (५) पद्म लेश्या और (६) शुक्ल लेश्या।

शुभ और अशुभ के भेद से लेश्या दो प्रकार की  
कही गई हैं। तेजो, पद्म और शुक्ल—ये तीनों लेश्या  
शुभ लेश्या हैं तथा कुण्ड, नील और कापोत—ये तीनों  
लेश्या अशुभ लेश्या हैं।

**लोक—**

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय से व्याप्त सम्पूर्ण  
द्रव्यों के आधार रूप चौदहराजूपरिमाण आकाश  
खण्ड को लोक कहते हैं। सम्पूर्ण लोक के तीन भेद  
हैं—(१) ऊर्ध्वलोक (२) अधोलोक और (३) तिर्यक्  
लोक। एक अन्य भेद से लोक चार प्रकार का है—  
(१) द्रव्यलोक (२) क्षेत्रलोक (३) काललोक और  
(४) भावलोक।

**वालाग्रकोटि—**

बाल के अग्रभाग के करोड़ों खण्ड करने पर जो उसका  
एक खण्ड होता है, उसे वालाग्रकोटि कहते हैं। दूसरे  
शब्दों में वालाग्रकोटि अत्यन्त सूखम प्रदेश का सूचक है।

**विषय—**

विषय ज्येष्ठ को कहते हैं। श्वेताम्बर साहित्यानुसार शब्द  
के तीन, रूप के पाँच, मन्थ के दो, रस के पाँच और  
स्पर्श के आठ भेद हैं। इस प्रकार पाँच इन्द्रियों के कुल  
तेहस विषय हैं।<sup>१</sup> किन्तु दिग्म्बर साहित्य के अनुसार

१. (क) स्थानांग ३/१/५८, (ख) समवायांग ६/३१, (ग) उत्तराध्ययन ३४/३,  
(घ) प्रज्ञापना १७/२, २८/४, (ङ) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग २,  
पृष्ठ ७०-७७, (च) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृष्ठ ४३६।
२. (क) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग १, पृष्ठ ४५-४६,  
(ख) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृष्ठ ४५६।
३. व्यास्याप्रशस्ति ११/१०/२।
४. श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग ६, पृष्ठ १७५।

पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श और सात स्वर—ये सत्ताईस भेद पाँचों इन्द्रियों के विषयों के और एक भेद मन का अनेक विकल्प रूप विषय है।<sup>१</sup> इस प्रकार दिगम्बर परम्परानुसार विषय कुल अट्ठाईस हैं।

**शल्य—** जिससे पीड़ा होती हो, उसे शल्य कहते हैं। शल्य के तीन भेद कहे गये हैं—(१) भाषा शल्य (२) निदान शल्य और (३) मिथ्यादर्शन शल्य।

**संयोग सम्बन्ध—** संयोग सम्बन्ध दो प्रकार का कहा गया है—

- (१) देशप्रत्यासत्तिकृत संयोग सम्बन्ध और
- (२) गुणप्रत्यासत्तिकृत संयोग सम्बन्ध

**संस्तारक—** संस्तारक का सामान्य अर्थ बिस्तर, शब्दा अथवा बिछौना है, किन्तु लिहेत अर्थ में संस्तारक शब्द शब्दों को कहा जाता है जिसे समाधिमरण के अवसर पर साधक ग्रहण करता है। संस्तारक चार प्रकार के कहे गये हैं—<sup>२</sup>

- (१) पृष्ठी (२) शिला (३) फलक और (४) तृण।

**समिति—** संयम की साधक प्रवृत्ति या यतनापूर्वक की जाने वाली प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। समितियाँ पाँच हैं—<sup>३</sup>

- (१) द्विर्या (गमन) समिति (२) भाषा समिति (३) एषणा (थाचना) समिति (४) आदान-भण्ड-पात्र निक्षेपण समिति और (५) उच्चारप्रस्त्रवण-खेल-सिधाण-जल्ल प्रतिस्थापनिका समिति।

उत्तराध्ययनसूत्र में अन्तिम दोनों समिति के नामों में शान्तिक भिन्नता है। वहाँ चौथी समिति आदान

१. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृष्ठ ५७८।

२. (क) स्थानांग ३/३/३८५, (ख) समवायांग ३/१५,  
(ग) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग १, पृष्ठ ७३,  
(घ) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ४, पृष्ठ २६।

३. वही, भाग ४, पृष्ठ १४२।

४. वही, भाग ४, पृष्ठ १५४।

५. (क) स्थानांग ५/३/४५७, (ख) समवायांग ५/२६, (ग) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग १, पृष्ठ ३३०-३३१।

समिति है तथा पांचवीं समिति उच्चार समिति है।<sup>१</sup>

दिगम्बर साहित्य में भी पांच समितियों का उल्लेख है। वहाँ भी अन्तिम दोनों समिति के नामों में श्वेताम्बर साहित्य से आंशिक भिन्नता है। वहाँ चौथी समिति आदान निष्ठेपण समिति और पांचवीं समिति प्रतिस्थापन समिति कही गई है।<sup>२</sup>

**सिद्ध—** शानाचरणादि आठ कर्मों का सर्वधा क्षय करके मोक्ष में जानेवाले जीव सिद्ध कहलाते हैं।<sup>३</sup>



१. उत्तराध्ययन २४/१-२।

२. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ४, पृष्ठ ३४०।

३. (क) प्रकापना, पद १, (ख) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग ५, पृष्ठ ११७।

## २. परिशिष्ट

### महाप्रत्यारूपान प्रकीर्णक की गाथानुक्रमणिका

गाथा	प्रकार	गाथा	प्रकार
<b>अ</b>			
अणसण पावोवगमं	उच्चेयण्यं जम्मण-भरणं तिरिएसु	४६	
अणुसरेसु नरएसु	उच्चेयण्यं जम्मण-भरणं नरएसु	४७	
अर्प्य पि भावसल्लं	उच्चेयण्यं जम्मण-भरणं मणुएसु	४७	
अबभुज्जयं विहारं			
अरहंता मंगलं मज्जा			
अविष्णुद्दीउपं जीवो			
असंजममण्डणं मिच्छत्			
असंजमवोगसणं			
<b>आ</b>			
आयरिया मंगलं मज्जा	उच्चेयण्यं जम्मण-भरणं तिरिएसु	४६	
आया मज्जां नाणे	उच्चेयण्यं जम्मण-भरणं नरएसु	४७	
आराहणोवरसो सम्मं	उच्चेयण्यं जम्मण-भरणं मणुएसु	४७	
आराहेऊण विक्त उक्कोसा <sup>०</sup>			
आराहेऊण विक्त जहन्नु <sup>०</sup>			
आहारनिमित्तागं अहृपं			
आहारनिमित्तागं मच्छा			
<b>इ</b>			
ईदियसुहसाउलबो			
<b>उ</b>			
उज्जाया मंगलं मज्जा	उच्चेयण्यं जम्मण-भरणं तिरिएसु	४६	
उड्डम्हे तिरियम्मि	उच्चेयण्यं जम्मण-भरणं नरएसु	४७	
उपान्ताऽणुप्पन्ना माथा	उच्चेयण्यं जम्मण-भरणं मणुएसु	४७	
उवही सरीरं चेव <sup>***</sup> । मणसा			
उवही सरीरं चेव <sup>***</sup> । ममतं			
उच्चेयण्यं जम्मण-भरणं खथनं			
<b>क</b>			
	कहया णं तु सुमरणं	५०	
	कप्यत्तसंभवेसु <sup>***</sup> । उववाए	५०	
	कलहं अवमक्षाणं पेसुणं	५१	
	कंतारे दुविभक्षे	५५	

ग्रन्था	क्रमांक	ग्रन्था	क्रमांक
कवपादो वि मणूसो	३०	त	
किण्ठा नीला काऊ लेसा झाणाहं	७१	तण कट्ठेण व अरणी""। अत्य-	
कि तं पंडियमरणं ? काणि	९१	सारेण ॥	५६
कि पुण अणगाहा हामागेण	८८	तण कट्ठेण व अरणी""। काण-	
कोहं भाण मायं लोहं	६८	भोगेहि ॥	५५
ख		तण कट्ठेण व अरणी""। भोयण-	
खद्देण व पीण व	६१	विहीए ॥	५७
खामेमि सब्ब जीवे	७	तवयोङ्गं गुणभरिर्य	७९
खीरदगुच्छुरसेसु	६३	तस्त व पायच्छत्त	३१
ग		ताहि दुक्खविवागाहि	१२५
गुत्तीजो समई-भावणाओ	७५	तिविहेण थ सुहमडलं	६४
च		तैऊ पम्हा सुकला लेसा	७२
चत्तारि कसाए तिनि	१३४	तौ उद्धरंति गारवरहिया	२९
चुलसीई किल लोए	४०	व	
ज		दसदोसविष्मुक्तं	३२
जइ इच्छसि नित्यरिडं	१३६	दंसण-नाण-चरित्ते तवे	१३७
जइ ताव ते सुपुरिसा आयारो०	८०	देविद-चक्रवट्टितणाहं	६२
जइ ताव ते सुपुरिसा गिरि०	८१	ष	
जह सुहियचकदाले	७८	धम्मं जिणपन्तत्त	१०७
जह डहइ वाउसहिजो	१००	धीर ! पडागाहरणं	१३३
जह पञ्चममिम काले	१२७	बीरपुरिसपन्तत्त""। ओहणो	१३२
जह बालो जंघंतो कज्जमकज्जं	२२	धीरपुरिसपन्तत्त""। घन्ना	८४
जं अन्नाणी कम्म	१०१	बीरेण वि मरियब्बं	१४१
जं किनि वि दुच्चरियं	३	त	
जं कुणइ भावसल्लं	२८	नस्ति किर सो पएसो	३९
जा काद पत्थणाओ	६५	न वि कारणं तणमओ	९६
जाहे होइ पमत्तो	९८	न वि तं सत्त्वं व विसं	२७
जिणवयणभणुग्यमई	९९	न हु मरणमिम उवल्लो	१०२
जिणवयणअणुग्या	९७	न हु सिज्जाह ससल्लो	२४
जिणवयणपर्मेयं महुरं	८३	निदामि निदणिल्जं	८
जेण विरामो जायह	१०६	प	
जे मे जाणति जिणा	२०	पंच व महूच्याहं	६७

गाथा	क्रमांक	गाथा	क्रमांक
पर्वेदियसंवरणं	७०	रागेण व दोसेण व	३६
पावाणं पावाणं कम्माणं	८९	दोसेण पडिनिकेसेण	६
पीयं धण्यज्ञीरं	३७	ल	
पुञ्चमकारियजोगो	८६	लज्जाइ गारबेण	९४
पुञ्च कारियजोगो अनियाणो	८८	थ	
पुञ्च कारियजोगो सभाहिकामो	८७	बलयामुहुसामाणो	५८
पोराणगं च कम्मं	१३०	बेषणासु उद्दन्नासु	१२२
व			
बत्तीसमंवियाहि कडजोगी	१२८	सत्तभयविष्पमुक्को	७४
बहुसो वि एव रूणं	३८	समणो मि त्ति य पहम	१०८
बाहिरज्ञमंतरं उव्वहि	४	समुद्दण्डेयणो पुण	१२१
बाहिति ईदियाइ	८५	सम्मं मे सम्बूएसु	१४०
भ			
भवसंसारे सब्बे	५१	सब्बे पाणारंभं पच्चक्खामी	३३
म			
मए कवं हमं कम्मं	१२४	संगं परिजाणामि	७७
मणसा अचितणिज्जं	११०	संजोगमूला जीवेण	१७
मणसा मणसच्चविङ्ग	७३	संसारचक्कवाले	५२
ममतं परिजाणामि	१०	संसाररंगमज्जे	१२९
मम भगलमरहता	११४	साहू य मंगलं मज्ज	११९
मा य बहु चितिज्जा	१३५	सिद्ध उवसंपणो	१२०
माया-पिह-बंधुहि	४३	सिद्धा य मंगलं मज्ज	११६
माया मि त्ति पिथा मे	४२	सुज्जमह दुक्करकारी	९५
मिच्छतं परिजाणामि	१९	सुबहु पि भावसल्ल	२५
मूलगुणे उत्तरगुणे	१२	सोही उज्जुयभूयस्त	२३
र			
रागं बंधं पओसं च	५	हंतूण मोहजालं	६६
ह			

### ३. परिशिष्ट

## सहायक ग्रन्थ सूची

१. अभिधान राजेन्द्र कोश : श्री विजय राजेन्द्र सूरजी-रतलाम।
२. अष्टपाहुड़ : (कुन्दकुन्द) — भाषा परिवर्तन : महेन्द्र कुमार जैन।  
(श्री दिग्म्बर जैन ध्याइयाय मंदिर, द्रुस्ट, सीनगढ़)।
३. उत्तराध्ययनसूत्र : सम्पादक मधुकर मुनि (श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)।
४. गोमटसार : सम्पादक ए० एन० उपाध्ये (भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली)।
५. चरद्वेष्यक प्रकीर्णक : अनु० सुरेश सिसोदिया (आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर)।
६. जैन बौद्ध और गोता के आचार इकानों का तुलनात्मक अध्ययन : डॉ० सागरमल जैन (प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर)।
७. जैन लक्षणावली : सम्पादक बालभद्र सिद्धान्त शास्त्री (वीर सेवा मन्दिर प्रकाशन, दिल्ली) (भाग १-३)।
८. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश : जैनेन्द्र वर्णी (भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली) (भाग १-४)।
९. नन्दीसूत्र : सम्पादक मधुकर मुनि (श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)।
१०. नन्दीसूत्र छूणि : (देववाचक) — सम्पादक मुनि पुण्यविजय (प्राकृत टेक्स्ट, सोसायटी, वाराणसी)।
११. नन्दीसूत्र छृति : (देववाचक) — सम्पादक मुनि पुण्यविजय (प्राकृत टेक्स्ट, सोसायटी, वाराणसी)।
१२. नियमसार : (कुन्दकुन्द) — हिन्दी अनु० परमेष्ठीदास (साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, श्री कुन्दकुन्द कहान दिग्म्बर जैन तीर्थ सुखा द्रुस्ट, जयपुर)।
१३. तिर्युक्ति संग्रह : (भद्रबाहु) — सम्पादक विजयजिनेन्द्रसूरीश्वर।
१४. निशीषसूत्र (भाष्य) — सम्पादक अमरचन्द जी म० सा० (सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा) (भाग १-४)।

१५. पद्मणायसुत्ताई—सम्पादक मुनि पुण्यविजय (श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई) (भाग १-२)।
१६. पाक्षिकसूत्र—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्घार फण्ड।
१७. प्रबचनसारः (कुन्दकुन्द)—सम्पादक आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये (श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास)।
१८. प्रज्ञापनासूत्रः सम्पादक मधुकर मुनि (आगम प्रकाशन समिति, व्यावर) (भाग १-३)।
१९. भगवत्ती आराधना : (शिवार्थी)—सम्पादक कैलाशचन्द्र शास्त्री (जैन संस्कृति रक्षक संघ, शोलापुर) (भाग १-२)।
२०. मूलाचारः (बट्टकेर) सम्पादक कैलाशचन्द्र शास्त्री (भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली) (भाग १-२)।
२१. विशेषावश्यकभाष्यः (जिनभद्र) सम्पादक पण्डित दलसुख मालवणिया (ला० द० भा० स० विद्या मन्दिर, अहमदाबाद)।
२२. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रः सम्पादक मधुकर मुनि (श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर) (भाग १-३)।
२३. सम्यसारः (कुन्दकुन्द) सच्चादक डॉ० पन्नालाल (श्री गणेश-प्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला प्रकाशन, वाराणसी)।
२४. समवायांगसूत्रः सम्पादक मधुकर मुनि (श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर)।
२५. स्थानांगसूत्रः सम्पादक मधुकर मुनि (श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर)।
२६. आवक प्रतिक्रमणसूत्रः (अगरचन्द्र भैरोदान सेठिया जैन परमार्थिक संस्था, बीकानेर)।
२७. श्री जैन सिद्धाल द्वोल संग्रहः (अगरचन्द्र भैरोदान सेठिया जैन परमार्थिक संस्था, बीकानेर) (भाग १-८)।
२८. ज्ञाताधर्मकथासूत्रः सम्पादक मधुकर मुनि (श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर)।